सुखसागरज्ञानबिन्दु-१५.

श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीत—

संबोधसत्तरी प्रकरण.

श्रीमती वल्लभश्रीजी विरचित,

हिन्दीभाषा सहित

श्रीमान् सुखसागरजी म० के वर्त्तमानपट्टधर श्रीमान
हरिसागरजी म की आज्ञानुयायिनी श्रीमती
शिवश्रीजी म०की शिष्या श्रीमती ज्ञानश्री-
जीकी शिष्या श्रीसुमतिश्रीजीके
सदुपदेशसे द्रव्यसहायक.

कटंगी निवासी रायबहादुर लक्ष्मीचन्द्रजी चोथराने
सोभाग्यवती पुत्री सोहनकुवरबाईके स्मरणार्थ.

वीर सं० २४४८ सन्ने १९२२

भेट.

समर्पण

प्रात स्मरणीया ज्ञानदात्री श्रीमती ज्ञानश्रीजी
महाराज साहिबा !



ज्ञान दान दे हितशिक्षा सह
यह उपकार अपार किया,
शिशुवयमें निःस्वार्थ भावसे,
भवोद्धिगकर बोध दिया,
सार्थक सके ! अत आपके,
करकमलों में हो सादर,
सम्बोध सत्तरि प्रकरण अर्पण,
अपनावें कृपया मातर् !

प्रार्थिका

[वल्लभश्री]

प्रात स्मरणीया

श्रीमती ज्ञानश्रीजी महाराज साहिबा



जन्म	दीक्षा
विक्रम संवत्	विक्रम संवत्
१९२८ श्रावण शुक्ला ३	१९६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ५

समर्पण

प्रात स्मरणीया ज्ञानदात्री श्रीमती ज्ञानश्रीजी
महाराज साहिबा !



ज्ञान दान दे हितशिक्षा सह
यह उपकार अपार किया,
शिशुवयमें निःस्वार्थ भावसे,
भवोंद्विगकर बोध दिया,
सार्थक सही ! अतः आपके,
करकमलों में हो सादर,
सम्बोध सत्तरि प्रकरण अर्पण,
अपनावें कृपया मातर् !

प्रार्थिका

[वल्लभश्री]

प्रात स्मरणीया

श्रीमती ज्ञानश्रीजी महाराज साहिबा



जन्म	दीक्षा
विक्रम संवत्	विक्रम संवत्
१९२८ श्रावण शुक्ला ३	१९६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ५

४ प्रकार के तीय पौषध जिन पूजा का फल और धम
काय मे विधिकी प्रबलतादि विषय स्फुट रूपसे बताये
गए है जिन्हा को सज्जन गण अवलोकन करके हृदय
मे धारण करने योग्य हो उनको अङ्गीकार करे, जानने
योग्य का जाने, त्यागने लायक त्याग यह ही भावना ह

और कल्की निवासी रायबहादुर श्रीयुत लछमीचन्दजी
बोयराने इस पुस्तकका प्रकाशितकरनेमे उदारवृत्तिसे
द्रव्य सहायता दी है अत उनको यह कार्य अति
प्रशंसनीय है

इस पुस्तकमे मुद्रणालयादि व दृष्टि दोषादि कारणो से अशुद्धिए
रही हो तो सज्जन गण ? सुधारके पढ़ तथा कृपया शुद्धाशुद्धपत्रको
अवलोकन करे ॥ इत्यलम् ॥

निवेदिका

वल्लभश्री

इस पुस्तकके संशोधन करने आदिमे सद्गुणसम्पन्न, आबाल
ब्रह्मचारी मुनिवर्य श्रीमान् कवीन्द्र सागरजी महाराज
साहबने स्वचित्त से परिपूर्ण परिश्रम उठाया है
अत इन महोदयका कोटिशः धन्यवाद देती
हुई आपश्रीमान के उपकारको
आभारी मानती हू वल्लभश्री

आबाल ब्रह्मचारिणी

श्रीमती वल्लभश्रीजी महाराज साध्विया



जन्म-विक्रम सम्वत् १९४८
पौष शुक्ला ६

दीक्षा-विक्रम सम्वत् १९६१
मार्गशीर्ष शुक्ला ५

॥ ॐ नम ॥

॥ श्री वीराय नमः ॥

। श्रीमन्तः सुखसागरास्मुगुरवो ज्येया जयन्तु प्रगे ॥

श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीतम्

॥ संबोधसत्तरी प्रकरणम् ॥

॥ मूल सस्कृतच्छायाहिन्दीभापान्तरभूपितम् ॥

नमिऊण तिलोअगुरु, लोआलोअप्पयासय वीर
सवोहसत्तरि- मह, रएमि उद्धारगाहाहिं ॥ १ ॥

नत्वा त्रिलोकगुरुं, लोकाऽलोकप्रकाशक वीरम् ।
सबोधसप्ततिकामह, रचयाम्युद्धृत गाथाभिः ॥१॥

॥ भाषान्तर मङ्गलाचरणम् ॥

शिवश्रीवल्लभ श्रीमान् वीरो विगतदूषण ।
दिव्याज्ञानविर्य देव-वन्द्य श्रीगुणसागर ॥१॥
कुर्वे सम्बोधसप्तत्या बोधदात्यासुरसम्पम् ।
भाषानुवाद-संक्षेप श्रीगुरूणामनुग्रहात् ॥ २ ॥

अर्थ —स्वर्ग, मृत्यु-पाताल, रूप तीनों लोकके गुरु-
-"गृणाति तत्त्वमसौ गुरु" अर्थात् तत्त्वको जो कहते हैं
व ही गुरु कहे जाते हैं, अत भगवान् सच्चे तत्त्वोपदेशक
होने से तीन लोकके गुरु हैं और लोकालोकके भावोंको
व्यक्त करनेसे प्रकाशक ऐसे वीर परमात्माको नमस्कार
करके मैं (प्रणेता रत्नशेखरसूरि) ग्रन्थोंमें से गाथाओं
का उद्धार करके सम्बोधसत्तरी नामक प्रकरणको रचता
हूं ॥ १ ॥

सेयवरो य आसवरो य,बुद्धो अ अहव अन्नो वा
समभावभाविअप्पा, लहेइ मुक्ख न सदेहो २

श्वेताम्बरश्चाशाम्बरश्च, बुद्धश्चाथवाऽन्यो वा ।
समभावभावितात्मा, लभते मोक्ष न सन्देह ॥२॥

अर्थः—जिसकी आत्मा अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थो मे राग द्वेषसे रहित समभावसे भावित है, वह चाहे श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर, चाहे बौद्ध हो, अथवा किसी अन्य मतको माननेवाला हो,तोभी अपार ससारके जन्मजरा मरणादि दुःखोंसे मुक्त होकर अजर अमर मोक्ष पदको पाता है. इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

अट्ठदसदोसरहिओ,
देवो धम्मोवि निउणदयसहिओ ।
सुगुरूवि बभयारी, आरभपरिग्गहा विरओ ३

अष्टादशदोषरहितो,देवो धर्मोऽपि निपुणदयासहित'
सगुरुरपि ब्रह्मचारी, आरम्भपरिग्रहाद्विरतः ॥ ३ ॥

अर्थ'—चौथे पॉचवे श्लोकमें दिखाये हुए अठारह दूषणोसे जो रहित हैं. * जो सब संसारी जीवोसे श्रेष्ठ स्व-

*मिलान कर—इस प्रकार वीतरागस्तात्र मे कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज देवाधिदेव स्वरूप फर्माते हैं

य परात्मा परञ्ज्योति परम परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्ण तमस परस्तादामनन्ति यम् ॥ १ ॥
सर्वे येनोदमूल्यन्त-समूला क्लेशपादपा ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा ॥ २ ॥

र्यादि, जो अनन्तद्रिवयी कल्पज्ञानमय हैं, पञ्चपरमेष्टिमें जो प्रधान हैं, जैसे ही जो अज्ञानके उस पार पहुंच गये हैं, जो सूर्यके जैसे प्रकाश करनेवाले हैं, जिन्होंने रागद्वेषादि रूपे नाशकरनेवाले वृक्ष जड़मूलसे उखाड़दिये हैं, जिनको सुरासुरनरनाथभी नमस्कार करते हैं, उनको देवाधिदेव कहते हैं। निपुण दयामयी, सर्वज्ञप्रणीत, मोक्षमें जानेके लिये जो अनन्य कारणरूप है, और " दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वस द्वात धारयतीति धर्मः " दुर्गतिमें गिरते हुए प्राणियोंको धारण करता है, अर्थात् दुर्गतिसे बचाता है, वह ही धर्म कहा जाता है "अहिंसा परमो धर्म " किसी जीवको हिंसा न करना यह उत्कृष्ट धर्म है,उत्सर्ग "वत्थु सहावोधम्मो" "वस्तुस्वभावो धर्म " वस्तुगत वस्तुके स्वभावको जानकर त्याग करने लायक विभावदशाका त्याग करना अङ्गीकार करने लायक आत्मदशाका अङ्गीकार करना ही उत्कृष्ट निश्चय धर्म ज्ञानीने फर्माया है। ब्रह्मचर्यके धारक और आरम्भ परिग्रहको त्यागनेवाले ही सद्गुरु होते हैं * उपर्युक्त

---

* जिनवर - धर्मना धर्मकर्त्ता च सान धमप्रवर्तक ।

धर्मको जो जानते हैं, और ऐसे धर्मका आराधन पनेसे सेवनकरने वाले जो होते हैं, जो हमेशां सच्चे धर्मके प्रवर्त्तकहैं, प्राणी-मात्रको जो धर्मशास्त्रके अर्थका उपदेश करते हैं, वे ही गुरु कहे जाते हैं. और भी गुरुकुलका लक्षण यह है, कि गुरु अज्ञान रूप अन्धकारके विरोधी अर्थात् तिमिरको नाश करते हैं, क्यो कि गुरु इन दो *अक्षरो मे सच्चा स्वरूप रहा हुआहै, यानि "गु"-एसा जो वर्ण है वह अन्धकार को कह-ने वालाहै और "रु" है वह उसका विरोधि-अन्धकार नाश-क है, अत' गु और रु इन दोनोंका एक साथ मिलान कर अर्थ करनेसे अन्धकाररूप अज्ञानका विरोधी गुरु होताहै। प्रस्तुत गुरु के प्रसङ्गमे शास्त्रमें दिखाये तीन प्रकारके गुरुओं का दिग्दर्शन करना भी योग्य ही है

॥१॥ गुरु—छिद्र रहित काष्ठ के जहाज जैसे होते हैं, विना

सत्येभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥

श्यामाचार्यकृताया पनवणासूत्रे-

मिलानकरे- गुशब्दस्त्वन्धकारे स्याद् रु शब्दस्तद्विरोधक ।
अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ १ ॥

कवीन्द्रनेलिमे इस प्रकार कहा है-मिलानकरे-यथा—

छिद्रवाला जहाज समुद्र से स्वय तिरताहै उस मे बैठने वाले पुरुषों को भी तिराताहै, तैसे ही सदाचारी ज्ञानी गुरु आप ससार रूप समुद्रसे तिरते हैं और उनके आश्रित रहे हुए भक्तजन, भव्यात्मा उन्हों की धर्म रूपी जहाजमें बैठा कर ससार सागरसे तिराते हैं ॥२॥ गुरु पान समान होते हैं, जैसे सूखा पान समुद्रमें गिर तो आप स्वय पार पा सकताहै, परं च अन्य जनों को पार नहीं पहुचा सकता है, तद्वत् गुरु आप ससारके पारको पा सक्ते हैं लेकिन् अन्य जनो को ससारके पारको नहीं प्राप्त करा सक्ते हैं अतः कन् केवलीकी मुआफिक क्यों कि आयुष्य अत्यन्त ही कम होने से उपदेशादि अन्य पुरुषों को नहीं देसक्ते हैं, अत

गुरवस्त्रिविधा प्रोक्ता आगमेषु महर्षिभिः ।
क्रमश समुपादेया ज्ञेया हेयास्तुबोधिभिः ॥ १ ॥
स्वय निजाश्रितानन्यौ तारयन्तस्तरन्ति य ।
निश्छिद्रपोततुल्यास्ते प्रथमा गुरवो मता ॥२॥
स्वरमक तारयन्त्येक नाऽ तारयितु परान् ।
शुष्कपत्रोपमा शिष्टौ द्वितीया गुरवस्त्विम ॥ ३ ॥
स्वये निजाश्रितान् बाधौ पातयन्त पतन्ति य
ताद्दक्शिलोपमा एते तृतीया गुरवोऽधमा ॥४॥

ऐसे गुरु आप संसार से तिरते हैं, औरो को नहीं तिरा सकते है. ॥३॥ गुरु लोह की जहाज सदृश होते हैं. जैसे लोहकी जहाज खुद समुद्र मे डूबकर रसातल मे पहूंचती है, और उस लोह की जहाज मे रहे हुए पुरुषो को भी डुबाकर रसातल मे पहूचाती है. तद्वत् पापकारी, नामधारी गुरु कर्मों से भारी हुए आप स्वयं संसार समुद्र मे नरक रूप रसातल मे पहूचते हैं, और उनके आश्रित रहे हुए जनोको भी नरक मे पहूंचाते है ॥ उपरोक्त तीन प्रकारके गुरु के स्वरूप को समझ कर अङ्गीकार करने लायक सद्गुरु को अङ्गीकार करना चाहिये उनहीकी सेवा शुश्रूषा भक्ति करने से कर्मोंसे भव्यात्मा मुक्त होतेहैं. त्याग करने योग्य कुगुरुका त्याग करना ही चाहिये ॥ ३ ॥

अब प्रथम देव के अठारह दूषण बतलाए जातेहैं. इन निम्नलिखित १८ दूषणोंको नष्ट करने से ही देवपना प्राप्त होताहै

अन्नाण कोह मय माण, लोह माया रईय अरई य
निद्दा सोअ अलियवयण,
चोरिआ मच्छर भया य ॥ ४ ॥

पाणिवह पेम कीला-पसगहासा य जस्स ए दोसा
अट्ठारसवि पणट्ठा, नमामि देवाहिदेवं तं ॥५॥

अज्ञान क्रोध मद मान-लोभ मायारतिश्चारतिश्च ।
निद्रा शोकालिकवचन-चौरिकामत्सरभयानि च ४
प्राणिवधप्रेमक्रीडा-प्रसगहास्याश्च यस्यते दोषा ।
अष्टादशापि प्रणष्टा, नमामि देवाधिदेव तम् ॥ ५ ॥

अर्थ —*अज्ञान १ क्रोध २ मद ३ मान ४ लोभ ५ माया ६ रति ७ अरति ८ निद्रा ९ शोक १० असत्यवचन ११ चोरी १२ मत्सर १३ भय १४ जीवहिंसा १५ प्रेम १६ क्रीडा प्रसङ्ग १७ हास्य १८ ये १८ दूषण जिनके नष्ट हुए है उन देवाधि देव को मै नमस्कार करता हूं ४-५

---

* तथापीत्येव महानाचार्या कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य अभिधानचिन्तामण्यामाहु आप्तवाक्यं प्रमाण ।

अन्तरायादानलाभ-वीर्यभोगोपभोगगाः ।
हासो रत्यरतीभीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञान निद्रा चाविरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषा-स्तेषामष्टादशाप्यमी ॥

॥ धर्म का स्वरूप ॥

सव्वाओवि नईओ, कमेण जह सायरमि निवडति
तह भगवई अहिंसि, सव्वे धम्मा समिलुति ६
सर्वा अपि नद्यः, क्रमेण यथा सागरे निपतन्ति।
तथा भगवत्यामहिंसाया, सर्व धर्माः सम्मिलन्ति ६

अर्थ—जैसे सब नदिएं अनुक्रम से समुद्र मे आकर गिरती है, तैसे ही भगवती जीवदया मे सब ही धर्म आकर मिलते है ॥ ६ ॥

॥ गुरु का स्वरूप. ॥

ससरीरेवि निरोहा, वज्झभिंतरपरिग्गहविमुक्का
धम्मोवगरणमित्त, धरति चारित्तरक्खट्ठा ।७।
पचिंदियदमणपरा, जिणुत्तसिद्धतगहियपरमत्था
पचसमिया तिगुत्ता, सरण मह एरिसा गुरुणो।
स्वशरीरेऽपि निरीहा, वाह्याभ्यन्तर परिग्रहविमुक्ताः
धर्मोपकरणमात्र, धारयन्ति चारित्ररक्षार्थम् ॥७॥
पंचेन्द्रियदमनपराः जिनोक्तसिद्धान्तगृहीतपरमार्था
पचसमितास्त्रिगुप्ताः, शरण ममैतादृशा गुरव॰ ॥८॥

अर्थ—अपने शरीर मे भी जिन्हों की निस्पृहना रही है, और बाह्य धन धान्यादि नव विध तथा अभ्यन्तर कषायादि परिग्रह से विमुक्त हुए चारित्र की रक्षा के वास्ते ही मात्र धर्मोपकरण जिन्हों ने धारण किये हैं. ॥ ७ ॥ पाच इन्द्रियों को दमन करने मे तत्पर, सर्वज्ञ प्रकाशित सिद्धान्तो से उत्कृष्ट अर्थों को ग्रहण करने वाले, पाच समिति, तीन गुप्ति से सयुक्त ऐसे गुरु महाराजो का मुझ को शरण हो ॥ ८ ॥

॥ कुगुरु का स्वरूप. ॥

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव ससत्तो
अहछदो वि य ए ए,अवदणिजा जिणमयमि ९

पार्श्वस्थोऽवसन्नो, भवति कुशीलस्तथैव ससक्त ।
यथा छदोऽपि चैते–ऽवदनीया जिनमते ॥ ९ ॥

अर्थ—पासत्था–ज्ञानादिक को अपनी पास रखकर भी आराधन न करे और मिथ्यात्वादि बध हेतु रूप पाश बंध मे बंधे रहे तथा ज्ञानादि रत्न त्रयी विहीन केवल द्रव्य-

लिङ्गी गृहस्थाचार धारी हो उस को पासत्था कहते है. ॥ ओसन्ना-क्रिया मार्ग मे शिथिलता-या-प्रमाद करे. खेद पावे, उस को ओसन्ना कहते हैं ॥ कुशीलिया-कुत्सित-निन्दनीय जिस का आचार विचार हो. और ज्ञान, दर्शन. चारित्र की विराधना करे उस को कुशीलिया कहते है, ॥ संसक्त-वैरागी पुरुषो का सयोग मिले तो वैराग्य दशा को धारण कर और अनाचारी पुरुष मिले तो अनाचार-आचार से विरुद्ध कार्य करने लग जाय. उस को ससक्त कहते है ॥ यथाछन्द-तीर्थंकर परमात्मादि की आज्ञा के विना ही अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करे तथा प्ररूपणा कर उस को यथा छन्द कहते ह. ॥ उपरोक्त पाचों ही कुगुरु अवन्दनीय कह गये है. ॥ (इन पांचो का स्वरूप विस्तार से जानने के जिज्ञासु देवेन्द्रसूरि कृत ' गुरुवदन भाष्य " की १२ वीं गाथा के ज्ञान विमल सूरि कृत टवार्थ मे विशेष विवेचन किया गया है. वहां से जान ले. यहा ग्रथ गौरवता के कारण से सक्षेप से ही विवेचन लिखागया है,) ९

॥ कुगुरु वन्दन फल ॥

पासत्थाइ वदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होई
जायइ कायकिलेसो, वधो कम्मस्स आणाइ

पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य, नैव कीर्तिर्न निर्जरा भवति
जायते कायक्लेशो, बन्ध. कर्मण आज्ञाया (भङ्ग) १०

अर्थ —उपरोक्त पासत्थादिको को वन्दन करने वाले पुरुषा की कीर्त्ति नहीं होती है, और निर्जराभी नहीं हो सकती है. अर्थात् कर्मों से मुक्त नहीं होते है उल्टा कायक्लेश होता है, और कर्मो का बन्धन होता है. जिन आज्ञा का भग होता है ॥ १० ॥

वदन कराने वाले कुगुरु को क्या फल मिल्ता है वह बताते है

जे बभचेरभट्ठा, पाए पाडति बभयारीण ।
ते हुति टुटमुटा, बोहि वि सुदुल्लहा तेसिं ११

ये ब्रह्मचर्यभ्रष्टा, पादे पातयन्ति ब्रह्मचारिण ।
ते भवन्ति टुंटमुटा बोधिरपि सुदुर्लभा तेषाम् ११

अर्थ —जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट भ्रष्टाचारी साधु, ब्रह्मचारी पुरुषों से नमस्कार कराते हैं अर्थात् पैरों में गिराते हैं वे कुशीलिये द्रव्यलिङ्गी भवान्तर में पाङ्गुले होते हैं. और उन दुःशीलिओं को बोध बीज-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी अत्यन्त ही दुर्लभ होती है ॥ ११ ॥

दसणभट्ठो भट्ठो, दसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झति चरणरहिआ, दसणरहिआ न सिज्झति

दर्शनभ्रष्टोभ्रष्टो, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चरणरहिता, दर्शनरहिता न सिध्यन्ति१२

अर्थः—सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए पुरुष भ्रष्ट कहे जाते हैं. सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए जीवों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है. द्रव्य चारित्र रहित आत्मा सिद्ध होते हैं. मगर सम्यक्त्व से रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध नहीं होते हैं. ॥ १२ ॥

॥ जिनाज्ञा का उल्लङ्घन न करना उस
विषयको दर्शाते हैं, ॥

तित्थयरसमो सूरी, सम्म जो जिणमय पयासेई
आणाइ अइक्कंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो

तीर्थंकरसम सूरि, सम्यग् यो जिनमत प्रकाशयति
आज्ञामतिक्रामन् स, कापुरुषो न सत्पुरुष ॥ १३।

अर्थ —तीर्थंकर समान सूरि (आचार्य महाराज] होते हैं जो कि सम्यक् प्रकार से जिन मत को प्रकाशित करते हैं लेकिन् वे ही आचार्य जिनाज्ञा का उल्लघन करते हैं, तो उनको नामधारी कुत्सित आचार्य जानना परन्तु सत्पुरुष न जानना ॥ १३ ॥

जह लोहसिला अप्पपि वोलए
तह विलग्गपुरिसपि ।
इय सारभो य गुरू, परमप्पाण च बोलेई ॥ १४ ॥

यथा लोहशिलाऽऽत्मानमपि,
ब्रूडयति तथा विलग्नपुरुयमपि।
एव सारभश्च गुरु, परमात्मान च ब्रूडयति ॥ १४।

अर्थ —जैसे लोहकी शिला स्वय डूबती है और

शिला के ऊपर स्थित पुरुषों को भी डूबा देती है. तैसे ही सावद्य व्यापारी गुरु खुद ससार समुद्र मे डूबते हैं. और उन के आश्रित रहे हुए भक्तजनो को भी डूबा देते है. १४

किइकम्म च पससा सुहसीलजणमि कम्मबधाय
जे जे पमायठाणा ते ते उववूहियाहुति ॥ १५ ॥
एव णाऊण ससग्गि–दसणालावसथव ।
सवास च हियाकखी,सव्वोवाएहिं वज्जए । १६ ।

कृतिकर्म च प्रशसा, सुखशीलजने कर्मबन्धाय ।
यानि यानि प्रमादस्थानानि,
तानि तान्युपबृंहितानि भवन्ति । १५ ।
एव ज्ञात्वा ससर्ग–दर्शनाऽऽलापसस्तवम् ।
सवास च हिताकाङ्क्षी, सर्वोपायैर्वर्जयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ'—सुख शीलिया-भ्रष्टाचारी कुगुरु को कृतिकर्म-द्वादशावर्त वन्दनादि तथा प्रशसा वगैरह करनी वह कर्म बधन के लिये होती है. और उपरोक्तानुसार करनेवाले पुरुष, जितने २ प्रमाद स्थान ह. उतने २ अधिक वृद्धिगत

करते है. अर्थात् भ्रष्टाचारी को वन्दनादि करना है गोया प्रमादादि पापस्थानको बढाना है ॥ १५ ॥ इसलिये ऐसा समझकर अपना हित चाहने वाले पुरुष को पासत्थादि कुगुरु का संसर्ग-संगति, दर्शन, उन के साथ वार्तालाप का करना और उन की तारीफ, तथा भ्रष्टाचारी के साथमें मे निवास आदि सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥

॥ चारित्र में शिथिल साधुको शिक्षा ॥

अहिगिलइ गलइ उअरं अहवा
पच्चुग्गलति नयणाइ ।
हा विसमा कज्जगई, अहिणा छच्छुंदरि गहिआ ।

अधिगिलति गिलत्युदर-मथवा प्रत्युद्गिलन्ति नयनानि
हा ! विषमा कार्यगति-रहिना छच्छुंदरी गृहीता

अर्थ.—जो चारित्र ग्रहण करने बाद शिथिल परिणामी बनते है, उन की दशा छछुन्दरी ग्रहण किये हुए सर्प की जैसी बनती है जैसे सर्प छछुन्दर को मुख मे ग्रहण किये बाद निगल जाय तो उस का पेट सडता है

और मुख से बाहिर निकाले तो उस की आंखे नाश होती है, हा ? इति खेदे सर्प छछुन्दर के जैसे चारित्र मे भग्न परिणामी के कार्य की विषम गति होती है ॥ १७ ॥

॥ चारित्र की सर्वोत्कृष्टता ॥

को चक्कवट्टिरिद्धिं, चइउ दासत्तण समभिलसई।
को वा रयणाइ मुत्तु,परिगिन्हइ उवलखडाई।१८।

कश्चक्रवर्तिऋद्धिं, त्यक्त्वा दासत्व समभिलषति।
को वा रत्नानि मुक्त्वा, परिगृह्णात्युपलखण्डानि।१८।

अर्थ—चक्रवर्त्ति की ऋद्धि का त्याग कर दास होने की इच्छा कौन करे, और रत्न को छोड कर पत्थर के टुकडे को ग्रहण कौन करे, अपि तु कोई भी जानकार तो न करे, वैसे ही संसार भर मे सर्वोत्कृष्ट साधु धर्म को पाकर तात्विक सच्चे सुख के अभिलाषी कौन महानुभाव उस अमूल्य चारित्र रत्न को त्याग करे अर्थात् कोई भी त्याग न करे ॥ १८॥

चारित्र का आराधन करते समय उपस्थित हुए विघ्नोका

नाश होगा उस को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं.

नेरइयाणवि दुक्ख,जिज्झइ कालेण किं पुण नराण
ता न चिर तुह होई, दुक्खमिण मा समुच्चियसु १९

नैरयिकानामपि दु ख, जीर्यतिकालेन
किं पुनर्नराणाम् ।
तस्मान्न चिर तव भवति, दु खमिद मा खिद्यस्व १९

अथ —नारकी के दु ख भी अनुक्रम से नष्ट होते हैं तो फिर मनुष्य के दु खों का नाश होने मे कहना ही क्या इसलिये तेरे को यह दु ख दीर्घ काल तक नहीं रहेगा, ऐसा समझकर तू खेद मतकर ॥ १९ ॥

चारित्र ग्रहण कर त्याग कर देना बहुत ही अनिष्ट है,ऐसा बताने के लिये कहते हैं ॥

वर अग्गिमि पवेसो, वर विसुद्धेणकम्मणा मरण ।
मा गहियव्वयभगो मा, जीअ खलिअसीलस्स ।२०

वरमग्नौ प्रवेशो, वर विशुद्धेन कर्मणा मरणम् ।
मा गृहीतव्रतभगो, मा जीवित स्खलितशीलस्य।२०।

अर्थ —अग्नि के अन्दर प्रवेश करना अच्छा है. विशुद्ध कर्म–अनशनादि करके मरना अच्छा है, लेकिन् ग्रहण किये हुए व्रत का भग करना श्रेष्ठ नहीं है. एवं शील–सदाचारी से स्खलित होने वाले का जीना भी व्यर्थ है. ।।२०

॥ सम्यक्त्व का स्वरूप. ॥

अरिह देवो गुरुणो,सुसाहुणो जिणमय मह पमाण
इच्चाइ सुहो भावो,सम्मत्त विंति जगगुरुणो ॥२१॥
अर्हन् देवो गुरव , सुसाधवो जिनमत मम प्रमाणम् ।
इत्यादि शुभो भावः सम्यक्त्वं ब्रुवते जद्गुरव ॥२१॥

अर्थ —देव अरिहन्त–कर्मरूप भावशत्रु को नाश करने वाले अरिहन्त ही मेरे आराध्य देव हैं. गुरु सुसाधु–स्व, पर आत्मा के उद्धारक सुसाधु ही मेरे गुरु हैं. ॥ और अनेकान्त वाद है जिस मे ऐसा जैन शासन ही मेरे परम माननीय है. इत्यादि दृढ श्रद्धा रूप शुभ भाव को ही जगद्गुरु–तीर्थंकर परमात्माने व्यवहार सम्यक्त्व फरमाया है. निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज

कृत " आगम सार में इस प्रकार बतलाया गया है. निश्चय देव–अपनी ही आत्मा. जीव निष्पन्न स्वरूपी सिद्ध वह संग्रह नय की सत्ता अपेक्षासे निश्चय गुरु-भी अपनी आत्मा-तत्त्व रमण करने से और निश्चय धर्म-वह अपना जीव का स्व स्वभाव ही है ऐसी दृढ सुश्रद्धा वहही मोक्ष दायिनी है. क्योंकी जीव स्वरूप पहिचाने विना कर्म क्षय नहीं होते हैं अत शुद्ध श्रद्धान कोही निश्चय सम्यक्त्व फरमाया है. उपरोक्त दोनों प्रकार के सम्यक्त्व के स्वरूप को अङ्गीकार किये विना इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती है अत व्यवहार को साधन करते हुए भी निश्चय आत्म धर्म को प्रकट करने को प्रयत्न शील होना ही चाहिये ॥ २१ ॥

॥ सम्यक्त्व की दुर्लभता. ॥

लब्भइ सुरसामित्त लब्भइ पहुअत्तण न सदेहो।
एग नवरि न लब्भइ,दुल्लहरयण च सम्मत्त ॥२२॥

लभ्यते सुरस्वामित्व, लभ्यते प्रभुत्व न सन्देह.।
एक नवर न लभ्यते दुर्लभरत्न च सम्यक्त्वम् ॥२२॥

अर्थः—देव स्वामित्व को पासकते हैं, प्रभुत्व को प्राप्त कर सकते हैं. इस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, केवल चिन्तामणी रत्न रूप एक दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न ही प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ है. ॥ २२ ॥

॥ सम्यक्त्व का फल. ॥

सम्मत्तमि उ लद्धे विमाणवज्ज न बधए आउ ।
जइवि न सम्मत्तजढो अहव न बद्धाउओ पुव्वि ।
सम्यक्त्वे तु लब्धे, विमानवर्ज्जं न बध्यत आयु ।
यद्यपि न सम्यक्त्वजडो, ऽथवा न बद्धायुष्क. पूर्वम् २३

अर्थः—चिन्तामणि रत्न से भी बढकर, अमूल्य सम्यक्त्व रत्न को पाने पर वैमानिक देव के आयुष्य को छोड कर अन्य किसी प्रकार के आयुष्य को जीव नहीं बांधता है. यदि वह सम्यक्त्व से पतित न हुआ हो वा उसने पहिले किसी अन्य गति के निकाचित आयुष्यको न बांधा हो। अत: सम्यक्त्वही स्वर्गापवर्गके अविनाशी सुखों कोदेता है २३

॥ सामायिक का फल ॥

दिवसे दिवसे लक्ख देइ सुवन्नस्स खडीय एगो ।
एगो पुण सामाइय करेइ न पहुप्पए तस्स ॥२४॥

दिवसे दिवसे लक्ष ददाति सुवर्णस्य खाण्डिकमेक
एक' पुन' सामायिक करोति न प्रभुत्वे तस्य ॥२४॥

अर्थ —एक पुरुष प्रतिदिन लाख खाडी [२० मण] प्रमाण सोनेका दान देता है. एक पुरुष सम भाव मे रह कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अपूर्व गुणों के लाभ रूप मुहूर्त्त काल पर्यन्त सामायक को आराधन करता है उस सवरधारी की समानता को लक्ष खडी सोने का दान देने वाला भी नहीं पासकता है. लक्ष खडी सोने के दान देने से भी ज्ञानी ने समभाव रख कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र को आराधन करने मे विशेष फल फरमाया है, अत. प्रत्येक प्राणी को उपरोक्त सामायिक का आराधन अवश्यमेव करना चाहिये ॥ अष्ट प्रकार की सामायिक का स्वरूप दृष्टान्त पूर्वक महोपाध्याय श्री क्षमाकल्याणजी महाराज कृत चातुर्मासिक व्याख्यान मे बतलाया गया है अत जिज्ञा-

सु जन यहां से जान ले. ॥ २४ ॥

सामायिक में स्थित पुरुष की कैसी स्थिति होती है, वह बतलाते हैं ॥

निंदपससासु समो,समो अ्र माणावमाणकारीसु ।
समसयणपरयणमणो, समाइयसगओ जीवो ।२५

निन्दा प्रशसासु समः, समश्च मानापमानकारिषु ।
समस्वजनपरजनमनाः, सामयिक सगतो जीवः ।२५

अर्थः—चाहे कोई उस पुरुष की निन्दा करे आदर करे, या तिरस्कार करे स्वजन हो, या अन्य जन हो. इत्यादि अनुकूल प्रतिकूल जितने कारण मिले उन सबो पर सामायिक में स्थित पुरुष समभाव रक्खे. राग द्वेष की परिणति को हटाकर आत्मगुणो मे रमण कर. वह ही जीव उत्कृष्ट सामायिक का अधिकारी बन सकता है. वीर परमात्मा ने उपरोक्त सामायिक के आराधक, पुणिया सुश्रावक के सामायिक की प्रशसाकी है. जिसके अतुल फलकी तुलना मगधेश्वर श्रेणिक राजा भी न करसका. ॥ २५ ॥

॥ सदोष सामायिक की निष्फलता ॥

समाइय तु काउ, गिहिकज्ज जोवि चितए सह्वो।
अट्टवसट्टोवगओ निरत्थय तस्स समाइय ॥२६॥

सामायिक तु कृत्वा, गृहकार्यं योऽपि चिन्तयति श्राद्ध
आतरौद्रमुपगतो निरर्थक तस्य सामायिकम् ॥ २६ ॥

अर्थ —जो श्रावक सामायिक को करता हुआ गृह कार्य सावद्य व्यापार के काम चिन्तवन करता है और आर्त्त,रौद्र ध्यान-महा सक्लिष्ट परिणामों से परिणत होताहै-मन, वचन, कायरूप योगों को आश्रव भाव मे वर्त्ताता है उस की सामायिक ज्ञानी ने निरर्थक बतलाई है. अर्थात् इस प्रकार की सामायिक करने से सवर भाव पैदा नहीं होता सवर भाव विना कर्म रज दूर नहीं होती है अत बत्तीस दोष को त्याग कर सामायिक करने मे प्रतिदिन उद्यम करनाही चाहिये ॥२६॥

॥ आचार्य महाराज के गुण ॥

पडिरूवाइ चउद्दश, खंतीमाई य दसविहोधम्मो।
बारस य भावणाओ,सूरिगुणा हुति छत्तीस ॥२७॥

प्रतिरूपादय श्चतुर्दश, क्षान्त्यादि श्च दशविधो धर्म'।
द्वादश च भावनाः. सूरिगुणा भवन्ति षट्त्रिंशत् ७७

अर्थः—प्रतिरूपादि चौदह गुण-प्रतिरूप १ तेजस्वी २ युगप्रधान ३ मधुर ध्वनि से बोलने वाले ४ गम्भीर ५ धैर्य वाले ६ उपदेश देने मे तत्पर सदाचारी ७ सुना हुआ स्मृति मे रखने वाले ८ चन्द्रजेसी शितलता के धारक ९ संयम शील १ नानाविध अभिग्रह वाले ११ विकथा विहीन १२ अचञ्चल १३ प्रशान्त हृदयी १४ ये प्रतिरूपादि १४, दश प्रकार के यति धर्म—*क्षमाधान् १ मानहीन २ कपट रहीत ३ मुक्ति-निर्लोभी ४ सत्तरह प्रकार के सयमी ५ बारह प्रकार के तपस्वी ६ सत्यवक्ता ७ शौच-पञ्चेन्द्रिय निग्रही ८ आकिञ्चन-नव विध परिग्रह से रहित ९ ब्रह्मव्रत- अठारह हजार शिलाङ्ग रथ धोरी इन १० प्रकार के य-

---

* नवतत्वमे इस प्रकार कहा है —

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे ।
सच्चं सोयं अकिंचण च बंभ च जइ धम्मो ॥ २९ ॥
क्षान्ति मार्दव मार्जव मुक्तिस्तप सयमश्च बाद्धव्य ।
सत्य शौचमकिञ्चन्य च ब्रह्म च यतिधर्म । ९ ॥

ति धर्म के धारक. बारह भावना *अनित्य भावना-संसार में धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नित्य नहीं है. देव, गुरु धर्म के सिवाय अन्य कोई शरण भूत नहीं है. २ संसार भावना-८४ लाख जीवा योनि मे परिभ्रमण का चिन्तन ३ एकत्व भा.-अकेला जीव आया और अकेला जायगा कोई किसी के साथी नहीं है ४। अन्यत्व-आत्मा से शरीर, पुत्र, कलत्रादि का भिन्न चिन्तवन ५ अशुचि पदार्थों का खजाना है, इत्यादि विचारना. ६ आश्रव भावना-संसारी जीवों को मिथ्यात्वादि बन्ध हेतुओं से कर्म बन्धन होता

---

* नवतत्वमें कहा है—

पढममणिच्चमसरणं संसारो एगया य अन्नत्तं ।
असुइत्तं आसव संवरो य तह निज्जरा नवमी ॥ ३० ॥
प्रथममनित्यमशरणं संसार एकता चान्यत्वम् ।
अशुचित्वमाश्रव संवरश्च तथा निर्जरा नवमी ॥३ ॥
लोगसहावो बोही दुलहा धम्मस्स साहगा अरिहा ।
एआओ भावणाओ भावेयव्वा पयत्तेण ॥ ३१ ॥
लोकस्वभाव बोधि, दुर्लभा धर्मस्य साधका अर्हत ।
एता भावना भावितव्या प्रयत्नेन ॥ ३१ ॥

है. इत्यादि चितन. ७। सवरभावना-मिथ्यात्वादि बंध हेतु को रोकने का उपाय सम्यक्त्वादि है. इत्यादि चिन्तवन ८ निर्ज्जरा भावना ज्ञान सहित की हुई क्रिया सकाम निर्जरा और अज्ञान से की हुई कष्ट क्रिया अकाम निर्जरा, सकाम निर्जरा का चिन्तवन ९। लोक स्वरूप भावना षड्द्रव्य से भरा हुआ चौदह रज्जु प्रमाण यह लोक है उस का चिन्तवन १०। बोधि दुर्लभ भावना–अनन्तकाल चक्रमे फिरते २ मनुष्य जन्म की दुर्लभता और उस के मिलने पर भी बोधि रत्न की दुर्लभता उसका चिन्तवन ११ ॥ धर्म भावना-दुरस्त संसार सागर से पार होने प जिनेश्वर प्रकाशित धर्म ही जहाज रूप है. इत्यादि चिन्तवन ये १२ बारह भावनाएं। इनके स्वरूप को चिन्तनेवाले. उपरोक्त १४ प्रति रूपादि गुण, १० यति धर्म १२ भावनाए सब मिलाने से ३६ होते है. ये ३६ गुणों से आचार्य महाराज सुशोभित हैं.

साधु के २७ गुण

छव्वय छकायरक्खा, पचिंदियलोहनिग्गहो खंती
भावविसुद्धि पडिलेहणा, य करणे विसुद्धी य २८
सजमजोए जुत्तो, अकुसलमणवयणकायसरोहो।
सीआइपीडसहण, मरण उवसग्गसहण च ॥२९॥
सत्तावीसगुणेहिं एएहिं जो विभूसिओ साहू ।
त पणमिज्जइ भत्तिब्भरेण हियएण रे जीव॥३०॥

षड्व्रतानि षट्कायरक्षा, पचेंद्रिय लोभनिग्रह क्षान्ति
भावविशुद्धि. प्रतिलेखना, च करणे विशुद्धिश्च २८
सयमयोगे युक्तो ऽकुशलमनोवचनकायसरोध ।
शीतादिपीडासहन, मरणमुपसर्गसहन च ॥ २९ ।
सप्तविंशतिगुणैरेतै, र्यो विभूषित साधु ।
त प्रणम भक्तिभरेण हृदयेन रे जीव ? ॥ ३० ॥

छ व्रत-महाव्रत ५ रात्री भोजन छट्ठा इस प्रकार प्राणातिपात-जीवहिंसा १ मृषावाद-असत्यवचन २ अदत्तादान-चौरी ३ मैथुन-कुशील या अब्रह्मव्रत ४ परिग्रह- धन धान्यादि इन पाचों का सर्वथा त्रिविध - त्याग करे. विशेष महाव्रत का

स्वरूप व्यवहार निश्चय से जानने के जिज्ञासु श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज कृत आगमसार पढें उस में विशेष वर्णन है. और अशन, पान, खादिम, स्वादिम वगेरह रात्रि भोजन सर्वथा न करे अर्थात् रात्रिभोजन के सर्वथा त्यागी वने. छकाय. पृथ्वी १ पानी २ अग्नि ३ वायु ४ वनस्पति ५ त्रस ६ इन छ काय की रक्षा करे पाच इन्द्रियस्पर्श-शरीर १ जिह्वा २ नाशिका ३ चक्षु ४ कांन ५ इन पाचों इन्द्रिओं का तथा लोभ का निग्रह करे १८ क्षमाशील, १९ परिणति निर्मल रक्खे, २० पडिलेहण विशुद्धता से करे २१ योग युक्त संयम पाले. २२ दुष्कृत्योसे मन, वचन, काया को रोके, २५ शीतादि व्यथा को सहन करे २६ मरणान्त कष्ट को समता के साथ सहे. २७ उपरोक्त इन २७ गुणों से विभूषित जो साधु महाराज हो उन महानुभाव को अरे जीव भक्ति से परिपूर्ण भरा हुआ हृदय से तूं प्रणाम कर ॥ २८-२९-३० ॥

॥ श्रावक के २१ गुण ॥

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूवव पगइसोमो ।
लोगप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ३१
लज्जालु, अ दयालु, मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी।
सकह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदशी विसेसन्नू ॥३२।
वुड्ढाणुगो विणिओ कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ।
तह चेव लद्धलक्खो, इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ३३
धर्मरत्नस्य योग्यो, ऽक्षुद्रो रूपवान् प्रकृतिसौम्य ।
लोकप्रियोऽक्रूरो, भीरुरशठ सुदाक्षिण्य ॥ ३१ ॥
लज्जालुश्च दयालु मध्यस्थ. सौम्यदृष्टिर्गुणरागी ।
सत्कथ सुपक्षयुक्त', सुदीर्घदर्शी विशेषज्ञ ॥ ३२।
वृद्धानुगो विनीत', कृतज्ञ परहितार्थकारी च ।
तथाचैव लब्धलक्ष्य-एकविंशतिगुणो भवति श्राद्ध

अर्थ —धर्म रूप रत्न को प्राप्त करने योग्य श्रावक २१ गुणो से सुशोभित होते हैं २१ गुण ये हैं-क्षुद्र-तुच्छ स्वभावी न हो १ रूप शाली हो २ सौम्य स्वभावी ३ सर्व जन वल्लभ ४ अक्रूर ५ भव भीरु ६ मूर्खता रहित ७ दा-

क्षिण्यता वाला हो ८ लज्जावान् हो ९ दयालु १० मध्यस्थ सौम्य दृष्टि रखने वाला हो ११ गुणानुरागी १२ सत्यवक्ता १३ न्याय पक्षवाला १४ दीर्घदर्शी १५ विशेष वेत्ता १६ महान् पुरुषो के अनुगामी १७ विनय गुणधारी १८ किये हुए उपकार को जानने वाला १९ अन्य हितार्थ चिन्तक २० लब्ध लक्षी ॥२१॥ उपरोक्त गुण संयुक्त सुश्रावक होता है. ॥ ३१-३२-३३ ॥

जिनागम की उत्कृष्टता

कत्थ अम्हारिसा पाणो दूसमा दोसदसिआ ।
हा अणाहा कह हुंता जइ न जिणागमो ॥ ३४ ॥
कुत्रास्मादृशः प्राणिनो, दुःषमदोषदूषिताः ? ।
हा ? अनाथा कथमभविष्य-न्नाऽभविष्यद्यदि
जिनागमः ॥ ३४ ॥

दुषम काल के दोषों से दूषित हमारे जैसे प्राणी कहा ? सर्वज्ञ प्रणीत सूक्ष्म प्रत्यक्ष परोक्ष विषयों से भरपूर यदि जिनागम न होता तो हमारे जैसे अनाथो की हा ? इति

॥ आज्ञा रहित धर्मक्रिया निष्फल ॥

आणाखडणकारी, जइवि तिकाल महाविभूईए
पूएइ वीयराय, सव्वपि निरत्थय तस्स ॥ ४१ ॥

आज्ञाखडनकारी यद्यपि त्रिकालं महाविभूत्या ।
पूजयति वीतराग, सर्वमपि निरर्थक तस्य ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिनाज्ञा विराधक पुरुष अगर महती विभूति से जिनेन्द्र भगवान् को त्रिकाल पूजन करता है, तदपि उस पुरुष की आज्ञारहित सब पूजनादि क्रियाएं निरर्थक हैं, क्यों की जहा जिसकी आज्ञा ही नहीं मानी जाती उसकी पूजा विडंबना मात्र है ॥ ४१ ॥

रन्नो आणाभगे, इक्कुच्चि य होइ निग्गहो लोए
सव्वन्नुआणभगे, अणतसो निग्गहो होई ॥४२॥

राज्ञ आज्ञाभगे एकश्चैव भवति निग्रहो लोके ।
सर्वज्ञाज्ञाभगे अनन्तशो निग्रहो भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस लोक मे राजा की आज्ञा भङ्ग करने वाला पुरुष एक ही वार दंडित होता है, लेकिन् सर्वज्ञ भग-

वान् की आज्ञा खंडित करने वाला भवोभव मे कर्मों से अनन्ती वार दंड पाता है ॥ ४२ ॥

॥ अविधि विधि मे अन्तर ॥

जह भोयणमविहिकय, विणासए विहिकयं जियावेई ।

तह अविहिकओ धम्मो देइ भव विहिकओमुक्खं

यथा भोजनमविधिकृत, विनाशयेद्विधिकृतं जीवयति तथाऽविधिकृतधर्मों, ददाति भव विधिकृतो मोक्षम्

अर्थः—जैसे अविधि से किया हुआ भोजन शरीर को विनाश करता है, विधि से किया हुआ भोजन शरीर को पुष्ट करता है, तैसे ही अविधि से किया हुआ धर्म जन्म, जरा, मरणादि रूप भव रोग को बढाता है, और विधि से किया हुआ धर्म कर्मरोग से मुक्त कर प्राणी को अजरामर-मोक्ष स्थान को देता है ॥ ४३ ॥

॥ द्रव्य स्तव, भाव स्तव का अन्तर ॥

मेरुस्स सरिसवस्स य, जित्तियमित्त तु अंतर होई ।

दव्वत्थयभावत्थय, अतरमिह तित्तिय नेय ॥ ४४ ॥
मेरो सर्षपस्य च, यावन्मात्र त्वन्तरं भवति ।
द्रव्यस्तवभावस्तवयो-रन्तरमत्र तावज्ज्ञेयम् ॥४४॥

अर्थ —मेरु पर्वत और सरसो के दाने मे जितना अन्तर होता है, उतना ही द्रव्य स्तव और भाव स्तव के अन्दर अन्तर जानना, कहा लाख योजन का मेरु पर्वत और कहा सरसो का दाना ? ॥ ४४ ॥

॥ द्रव्य स्तव, भाव स्तव का उत्कृष्ट फल ॥

उक्कोस दव्वत्थय, आराहिय जाइ अच्चुय जाव ।
भावत्थएण पावइ,अंतमुहुत्तेण निव्वाण ॥ ४५॥
उत्कृष्ट द्रव्यस्तव, माराध्य यात्यच्युत यावद् ।
भावस्तवेन प्राप्नो-त्यन्तर्मुहूर्तण निर्वाणम् ॥ ४५ ॥

अर्थ —द्रव्य स्तव को आराधन कर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट १२ वे अच्युत नामक देव लोक तक जीव जासकता है. भाव स्तुति करने से अन्तर्मुहूर्त मे निर्वाण को पाता है.४५

॥ कैसे गच्छ को त्यागना. ॥

जत्थ य मुणिणो कयवि, क्कयाइ कुव्वति सजम-
ब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर, विसंव दूर परिहरिज्जा ॥४६॥

यत्र च मुनयः क्रयवि–क्रयादिं कुर्वन्ति नित्यमभ्रष्टाः
तं गच्छ गुणसागर ?, विषवत् दूरं परिहरेत् ॥४६॥

अर्थः—जिस गच्छ मे नित्य साधु धर्म से भ्रष्ट आ-
चार वाले मुनि क्रय, विक्रय (खरीदना, बेचना) करते हैं,
उस गच्छ को हेगुणसागर ? जहर के जैसे दूर से ही
त्याग कर ॥ ४६ ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमाइय विविहमुवगरणं
पडिभुजइ साहूहिं, त गोयम केरिस गच्छं ॥ ४७ ॥

यत्र चार्यालब्धं, प्रतिग्रहादिक विविधमुपकरणम् ।
प्रतिभुज्यते साधुभिः, स गौतम कीदृशो गच्छः॥४७॥

अर्थः—जिस गच्छ में आर्याओं के लाए हुए वस्त्र,
पात्रादि उपकरण साधुओं से भोगे जाते हैं, हे गौतम ?
वह गच्छ कैसा ? अर्थात् वह गच्छ नहीं, गच्छाभास

समझना ॥ ४७ ॥

जहिं नत्थि सारणा वारणा, य पडियोचणा य गच्छमि ।
सो अ अगच्छो गच्छो, सजमकामीहि मुत्तव्वो।४८।

यत्र नास्ति सारणा, वारणा च प्रतिचोदना च गच्छे।
स चागच्छो गच्छ , सयमकामिभि र्मोक्तव्य ॥४८॥

अर्थ—जिस गच्छ में सारण देख रेख, वायण-वाचना चोयणा-प्रमादी को प्रेरणा, प्रति चोयणा-वार वार प्रेरणा इत्यादि नहीं है वह गच्छ कैसा? अर्थात् कुछ नहीं अत संयम के अभिलाषिओं को उपरोक्त गच्छ का त्याग करनाही चाहिये ॥ ४८ ॥

गच्छ तु उवेहतो, कुवइ दीहभवे विहिएआ ।
पालतो पुण सिज्झइ, तइअ भवे भगवई सिद्ध।४९

गच्छं तूपेक्षयन्, कुर्याद्दीर्घं भव विधिना ।
पालयन्पुन सिध्यति, तृतीयभवे भगवत्या सिद्धम्॥

अर्थः—गच्छ की उपेक्षा-बेदर कारी कर तो वह पुर-

प दीर्घ ससार करे, और विधि पूर्वक गच्छ का पालन करे तो तीसरे भव में सिद्ध पद को प्राप्त करता है. ऐसा भगवती सूत्र मे. फरमाया है. ॥ ४९ ॥

जत्थ हिरन्नसुवन्न, हत्थेण पराणगपि नो छिप्पे।
कारणसमप्पियपि हु, गोयम गच्छ तय भणिय ॥

यत्रहिरण्यसुवर्णं, हस्तेन परकीयेऽपि नो स्पृशेत्।
कारणसमर्पितेऽपि हि, गौतम? गच्छः स भणितः॥५०।

अर्थ.-जिस गच्छमें बलात्कार से कारण वश किसी अन्य के घड़े हुए हिरण्यको और नहीं घडे हुवे सुवर्णको समर्पण करने पर भी मुनि उन को हस्त से भी स्पर्श नहीं करते है हे गौतम ? वह ही गच्छ कहा जाता है. ॥ ५० ॥

पुढविदगअगणिमारुअ-वणस्सइ तहतसाणविविहाण।
मरणतेवि न पोडा, कीरइ मणसा तय गच्छ॥५१॥

पृथ्व्युदकाऽग्निमारुत, वनस्पतीना तथा त्रसाना विविधानाम ।

मरणान्तेऽपि न पीडा, क्रियते मनसा स गच्छ ॥५१॥

अर्थ—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, ये ५ स्थावर, तैसे ही अनेक प्रकार के हल्ते, चल्ते त्रस, उपरोक्त दोनों प्रकार के जीवों को साधु मरणांत कष्ट आने पर भी मन से पीडा न कर तो वचन, काया से तो कर ही क्या ? अर्थात त्रिविध २ जीव हिंसा का सर्वथा त्याग कर वह ही गच्छ है ॥ ५१ ॥

मूलगुणेहिं विमुक्क वहुगुणकलियविलद्धिसपन्न
उत्तमकुलेवि जाय निद्धाडिज्जइ तय गच्छ ॥५२॥

मूलगुणैर्विमुक्त, बहुगुणकलितमपि लब्धिसमासम् ।
उत्तमकुलेऽपि जात, निर्घाटयति स गच्छ ॥ ५२ ॥

अर्थ—कोई साधु अन्य बहुत से गुणों से युक्त हो, तथा लब्धि मान् हो, श्रेष्ठ कुल में पैदा हुआ हो मगर वह साधु मुरप मूल गुणों से भ्रष्ट हो तो उस साधु को गच्छ से बाहिर निकाल दे वह ही सच्चा गच्छ है. [किन्तु भ्रष्टाचारी की दाक्षिण्यता रख कर उस को गच्छ में र-

जैव वह गच्छ उन्नति कारक नहीं बन सकता. उल्टा अ-वनति कारक बनताहै. अतः मूल गुण विहीन साधु को गच्छ से बाहिर सडे पान की मुआफिक निकाले वह ही गच्छ है ॥ ५२ ॥

जत्थ य उसहादिणं, तित्थयराण सुरिंदमहियाण।
कम्मट्ठविमुक्काण, आण न खलिज्जइ स गच्छो॥५३

यत्र च ऋषभादीना, तीर्थकराणा सुरेन्द्रमहितानाम्
कर्माष्टविमुक्ताना, माज्ञा न स्खलति स गच्छः॥५३॥

अर्थः—जिस गच्छ मे अष्ट कर्मों से रहित, और इन्द्रो से पूजित, ऐसे ऋषभ देव स्वामी आदि तीर्थंकरो की आज्ञा स्खलित नहीं होती है. अर्थात् तीर्थंकरों के आज्ञानु-सार वर्तान होता है. वह ही गच्छ है. ॥ ५३ ॥

जत्थ य अज्जाहिं सम, थेरावि न उल्लवंति गय-
दसणा ।
न य झायंतित्थीण, अंगोवगाइ त गच्छ ॥५४॥

यत्रचार्याभि सम,स्थविराअपि नोल्लपन्ति गतदशना
न च ध्यायन्ति स्त्रीणा–मगोपागानि स गच्छ ॥५४॥
अर्थ —जिस गच्छ मे गिर हुए दात वाले ऐसे वयो वृद्ध स्थविर मुनि भी आर्याओं के साथ मे वार्तालाप नहीं करते है और स्त्रिओं के अङ्गोपाङ्ग की तरफ नहीं देखते है वहही गच्छ है ॥ ५४ ॥

वज्जेइ अप्पमत्तो, अज्जससग्गि अग्गिविससरिसी
अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्ति खु अचिरेण५५
वर्जयत्यप्रमत्त, आर्यासंसर्गमग्निविषसदृशम् ।
आर्यानुचर' साधु, लभतेऽकीर्ति खल्वचिरेण ॥५५॥
अर्थ —अप्रमादी साधु आर्याओं के ससर्ग को अग्नि, विष सदृश समझ कर त्याग कर क्योंकि आर्याओं के कथनानुसार अनुचर की मुआफिक चलनेवाला साधु निश्चय कर शीघ्रही अपयश को पाता है. ॥ ५५ ॥

॥ शील की पुष्टता ॥

जो देइ कणयकोडिं, अहवा कारेइकणयजिण
भवण।

तस्स न तत्तिय पुन्न, जत्तिय बभवए धरिए ॥५६॥

यो ददाति कनककोटि, मथवा कारयति कनकजि-
नभवनम् ।
तस्य न तावत्पुण्यं, यावद् ब्रह्मव्रते धारिते ॥ ५६ ॥

अर्थः—जो कोई पुरुष सुवर्ण कोटि (क्रोड सोना मोहोरो) को दान म देता है, अथवा कोई पुरुष सोने का जिन भवन [जिनेश्वर का मंदिर]करवाता है, उस पुरुष को उतना पुण्य नहीं होता है कि जितना ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर ने वाले को होताहै अर्थात् उपरोक्त दान देनेवाले से तथा सुवर्ण का मदिर करवाने वाले से भी ब्रह्मचर्य व्रतधारक व- ढ्कर पुण्यशाली कहा गया है. ॥ ५६ ॥

सील कुलआहरण, सील रूव च उत्तम होइ।
सील चिय पडित्त, सील चिय निरुवम धम्म॥५७।

शील कुलाभरणं, शील रूपं चोत्तम भवति
शीलं चैव पाण्डित्य, शीलं चैवनिरूपमो धर्मः ॥५७।

अर्थ.—शीलही कुल्का अलकार है, शील ही श्रेष्ठ

रूप है. और शील ही सच्चा पाण्डित्य है. और शील ही अनुपम धर्म है. अत: शील [ब्रह्मचर्य, सदाचार, सचारित्र] कोही अङ्गीकार करना चाहिये. ॥ ५७ ॥

॥ कुमित्र के संसर्ग का त्याग ॥

वरं वाही वरं मच्चू, वरं दारिद्दसंगमो ।
वरं अरण्णवासो अ, मा कुमित्ताण संगमो ॥५८॥

वरं व्याधि वरं मृत्यु, वरं दारिद्र्यसंगमः ।
वरमरण्यवासश्च, मा कुमित्राणां संगमः ॥ ५८ ॥

अर्थ —व्याधि से व्याप्त होना श्रेष्ठ है. मृत्यु को प्राप्त होना अच्छा है दारिद्र्य का संगम करना उत्तम है अटवी में वसना अच्छाहै. मगर कुमित्रों का समागम कदापी नहीं करना चाहिये क्योंकि व्याधि, मृत्यु, दारिद्र्य, अटवी आदि का संगम एक ही भव में दुःखदायी और कुमित्रों का साहचर्य तो भवो भव में दुःख परंपरा को देने वाला होता है. अतः कुसंग तो शीघ्र ही त्याग ने योग्य है ॥ ५८ ॥

अगीयत्थ कुसीलेहिं, सग तिविहेण वोसिरे।
मुक्खमग्गमि मे विग्घ पहमि तेणगो जहा॥५९॥
अगीतार्थ कुशीलैः, सग त्रिविधेन व्युत्सृजेत्।
मोक्षमार्गे इमे विघ्नाः, पथि स्तेनको यथा ॥ ५९ ॥

अर्थः—अगीतार्थ और दुःशीलों का सग त्रिविध-मन, वचन और कायाद्वारा त्याग करे, क्योंकि जैसे रास्ते मे चौर विघ्न रूप होते है वैसे ही ये मोक्ष मार्ग मे उपद्रव करने वाले हैं. ॥ ५९ ॥

उम्मग्गदेसणाए, चरण नासति जिणवरिंदाण।
वावन्नदसणा खलु, न हु लब्भा तारिस दट्ठु६०
उन्मार्गदेशनया, चरण नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणाम्।
व्यापन्नदर्शनाः खलु, नह्लिभ्य तादृशा दर्शनम्।६०

अर्थ.—उन्मार्ग देशक अदर्शनीय होते हैं. जोउन्मार्ग देशना-कुयुक्तिओद्वारा जिनेश्वर भगवान ने फरमाये हुए चारित्र-सदाचार को नाश करते हैं. और जिन्हो का शुद्ध श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नाश हो गया है, वैसे पुरुष निश्चयकर दर्शन के योग्य नहीं है ॥ ६० ॥

॥ ओसन्ना के अनुयायी को बोधि दुर्लभ. ॥

परिवारपूअहेऊ, ओसन्नाण य आणुवित्तीए ।
चरणकरणनिगूहई, त दुलह बोहिअ जाण ॥६१॥

परिवारपूजाहेतवे-ऽवसन्नानामनुवृत्त्या ।
चरणकरणौ निगूहति, तद्दुर्लभबोधिक जानीहि ।६१

अर्थ —परिवार की पूजा के निमित पूर्वोक्त ओसन्नाओ के अनुयायी होकर जो चरण सत्तरि और करण सत्तरि का गोपन-अपलाप करता है, उस पुरुष को बोधि-सम्यक्त्व की प्राप्ती होनी दुर्लभ है ॥ ६१ ॥

दृष्टान्त द्वारा हीनाचारिके सग से सदाचारी मे दोषकी पुष्टि

अवरस य निंबस्स य, दुण्हपि समागयाइ मूलाइ ।
ससग्गेण विणट्ठो, अबो निंबत्तण पत्तो ॥ ६२ ॥

आम्रस्य च निम्बस्य च, द्वयोरपि समागतानि मूलानि ।
ससर्गेण विनष्ट, आम्रो निम्बत्व प्राप्त ॥ ६२ ॥

अर्थ —आँवे का मूल और नीम का मूल इन दोनों के एकत्रित होने पर नीम के ससर्ग से आवा अपने रूप

से नष्ट होकर नीम रूप में परिणमता है. तद्वत् ओसन्ना हीनाचारी के सयोग से सुशील सदाचारी साधु भी भ्रष्ट आचार वाला होता है ॥ ६२ ॥

॥ दृष्टांत से दुराचारी के साथी सु साधु भी निंदनीय होते हैं॥

पक्कणकुले वसतो, सउणीपारोवि गरहिओ होई।
इय दसणासुविहिआ,मज्झि वसता कुसीलाण६३

पक्वणकुले वसन् शकुनिपारोऽपि गर्हितो भवति।
इति दर्शन सुविहिता, मध्ये वसन्तः कुशीलानाम्

अर्थः—जैसे चंडाल के कुल मे वसता हुआ शकुनि-पारो-वेदपार गामी ब्राह्मण भी निन्दनीय होता है. वैसे ही दुःशीलों के मध्यमे रहने वाले सुविहित अच्छे साधु भी निन्दा के आदर्शभूत बनते हैं ॥ ६३ ॥

॥ उत्तम की सगति मे लाभ. ॥

उत्तमजणससग्गी, सील दरिद्दंपि कुणई सीलड्ढ।
जह मेरुगिरि विलग्ग, तणंपि कणगत्तण मुवेई ६४

उत्तमजनससर्गः, शीलदरिद्रमपि करोति शीलाढ्यम्
यथा मेरुगिरि विलग्न, तृणमपि कनकत्वमपैति ॥६४

अर्थ —उत्तम पुरुष का ससर्ग शील रहित पुरुष को भी शील शाली करता है जैसे मेरु पर्वत मे लगा हुआ तृण भी सुवर्णता को पाता है ॥ ६४ ॥

॥ मिथ्यात्व से बड़े दोष होते हैं ॥

नवि त करेसि अग्गी, नेव विस नेव क्रिन्हसप्पो य
ज कुणइ महादोस, तिव्व जीवस्स मिच्छत्त ६५
नापि तत्करोत्यग्नि, नैव विष नैव कृष्णसर्पश्च ।
यत् करोति महादोष, तीव्र जीवस्य मिथ्यात्वम् ६

अर्थ —तीव्रमिथ्यात्व अतत्त्वश्रद्धान जीव को जितना महान दोष पैदा करता है. उतना दोष अग्नि, जहर, सर्पभी नहीं करते उनसे भी बढ़कर दु खदायी मिथ्यात्व है उपरोक्त पदार्थतो एक भवमे दु ख देते हैं, मिथ्यात्व तो भव भवमे दु खदेने वाला है अत मिथ्यात्वका त्याग करना ही चाहिये ॥६५॥

॥ मिथ्यात्वके होने पर सत्क्रिया भी व्यर्थ है. ।

कट्ठ करेसि अप्प, दमेसि अरथ चयसि धम्मत्थ ।
इक्क न चयसि मिच्छत्त, विसलव जेण वुड्ढिहसि।
कष्ट करोष्यात्मान, दमयस्यर्थं त्यजसि धर्मार्थम् ।
एक न त्यजसि मिथ्यात्व, विषलव येन वर्द्धयसि

अर्थः–कष्ट को करता है, आत्मा को दमता है. धर्म के लिये द्रव्यका त्याग करता है, लेकिन् तालपुट शहर के वणिये के जैसे मिथ्यात्वका त्याग नहीं करता है. तो ये सब सत्क्रियाएं व्यर्थ होती हैं. क्योंकि यह मिथ्यात्व रूप शहर चेतना को नाश करता है. और जिससे मूर्च्छित हु-आ ससार सागर को भी बढाता है. अर्थात् तिर नहीं सकता है. ॥ ६६ ॥

॥ यतनाकी उत्कृष्टता ॥

जयणाय धम्मजणणी, जयणा
धम्मस्स पालणी चेव ।
तववुड्ढिकरी जयणी, एगतसुहावहा जयणा ६७

यतना च धर्मजननी, यतना धर्मस्य पालनी चैव ।
तपोवृद्धिकरी यतनै–कान्तसुखावहा यतना ॥ ६७ ॥

अर्थः–यतना–विवेक–बुद्धि ही धर्म की माता है, यतना–सूक्ष्म दृष्टि से देख कर की हुई क्रिया ही धर्मकी रक्षा करने वाली है, यतना सत्प्रवृति ही तप की वृद्धि क-रने वाली है. यतना–आत्माकीअभिमुखता ही एकान्त मोक्षसुखको देनेवाली है ॥ ६७ ॥

॥ कषाय का फल ॥

जं अज्जिअ चरित्तं, देसूणाइ वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥ ६८ ॥

यदर्जितं चारित्रं, देशोनया ऽपि पूर्वकोट्या ।
तदपि कषायितमात्रो, हारयति नरो मुहूर्तेन । ६८ ।

अर्थ –जो पुरुष मुहूर्त ४८ मिनीट मात्र कालतक भी कषाय–क्रोधादि को करता है तो वह देशोन–किञ्चिद् न्यून–पूर्वकोटि वर्षोंमें सेवन किये हुए चारित्र तप क्रिया आदि सदनुष्ठान को नाश–निष्फल करता है. ॥ ६८ ॥

॥ ४ कषाय के पृथक् २ फल ॥

कोहो पीई पणासेई, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेई, लोहो सव्वविणासणो ।

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ६९

अर्थ –क्रोधप्रीतिका नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है. माया मित्रता का विनाश करती है लोभ सबका नाश करता है. ॥ ६९ ॥

॥ क्षमाके गुण ॥

खती सुहाण मूल, मूल धम्मस्स उत्तमा खती ।
हरइ महाविज्जा इव, खंती दुरियाइ सव्वाइ ।७०।

क्षान्ति. सुखाना मूलं, मूलं धर्मस्योत्तमा क्षान्तिः ।
हरति महाविद्यव, क्षान्तिर्दुरितानि सर्वाणि ॥ ७०।

अर्थ–सुखका मूल ही क्षमा है. धर्मका मूल भी श्रेष्ठ क्षमा है महती विद्या की भाँति सब पापो का नाश भी क्षमा करती है. ॥ ७० ॥

॥ पाप श्रमणका लक्षण ॥

सय गेहं परिच्चज्ज,-परगेह च वावडे ।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणुत्ति वुच्चई । ७१।

स्वक गृहं परित्यज्य, परगृहं च व्याप्रियते ।
निमित्तेन च व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥७१

अर्थः–जो स्वस्वभावरूप अपने घर को त्यागकर पर भाव–पौद्गलिक रूप परगृहमे तन्मयी बनता है. और निमित्त द्वारा व्यापार करता है. वह पाप श्रमण कहा जाता है. ॥ ७१ ॥

दुद्ध दही विगईओ, आहारेई अभिक्खण ।
न करेइ तवोकम्म, पावसमणुत्ति वुच्चई ॥ ७२ ॥

दधिदुग्धे विकृती, आहारयत्यभीक्ष्णम् ।
न करोति तप कर्म, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ –दूध दही घी तेल मिठाई आदि विगय–विकार वर्धक पदार्थों को पुन. पुन भक्षण करता है. और इच्छा-रोधनरूप तप क्रिया नहीं करता है. वह पाप श्रमण कहा गया है. ॥ ७२ ॥

॥ ६ प्रमाद सेवनका फल ॥

मज्ज विसय कसाया, निद्दा विकहा य
पचमी भणिया ।
ए ए पच पमाया, जीव पाडति ससारे ॥ ७३ ॥

मद्यविषयकषायौ, निद्रा विकथा च पचमी भणिता
एते पच प्रमादा, जीव पातयन्ति ससारे ॥ ७३ ॥

अर्थ –मद १ विषय २ कषाय ३ निद्रा ४ और पाचवीं विकथा–ये पाच प्रमाद हे. ये प्रमाद अपने वशी भूत हुए जीवो को सन्सार मे पटकते हैं अर्थात् प्रमाद क

सेवनसे जीव ससार मे परिभ्रमण करते हैं. ॥ ७३ ॥

॥ निद्रासे होती हुई हानि ॥

जइ चउदसपुव्वधरो, वसई निगोएसुऽणतय काल
निद्दापमायवसओ,ता होहिसि कह तुम जीव७४

यदि चतुर्दशपूर्वधरो,वसति निगोदेष्वनतक कालम्।
निद्राप्रमादवशग–स्ततो भविष्यसि कथ त्व जीव?७४

अर्थ–यदि चौदह पूर्वधर मुनि भी निद्रारूप प्रमादके वशी भूत होता है. तो वह भी निगोदमे जाकर अनन्त कालतक निवास करता है. तो रे जीव ? तेरी क्या दशा होगी. अर्थात् जो तु निद्रारूप प्रमादका सेवन करता है. तो उन निगोदके दुःखो से कैसे वच सकेगा अत. निद्राको छोडकर द्रव्यभाव से जागृत रह. ॥ ७४ ॥

॥ ज्ञान क्रियाकी आवश्यकता ॥

हय नाण कियाहीण, हया अन्नाणओ किया ।
पासतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अधओ ७५

हत ज्ञान क्रियाहीन, हताऽज्ञानतः क्रिया ।
पश्यन्नपि पंगुर्दग्धो, धावमानश्चान्धकः ॥ ७५ ॥

अर्थ—क्रिया रहित ज्ञान नष्ट है, अज्ञान से की हुई क्रिया भी नाश होती है क्यो कि—"ज्ञानस्य फलं विरतिः" परभाव को जानकर भी जो विरक्त नहीं होता है. उसका ज्ञान भी निष्फल है. और अज्ञानी कृत्याकृत्य के भेदको नहीं जानता है. इसलिये उसकी क्रियाभी निरर्थक होती है. दावानल लगे हुये जङ्गलमे देखता हुआ पगु दग्ध होता है और दौडता हुआ अन्धा भी जलता है. ॥ ७८ ॥

संजोग सिद्धिअ फल वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाई ।
अंधो य पगू य वणे समिच्चा,
ते सपउत्ता नगर पविट्ठा ७६

सयोगसिद्धिक फल वदन्ति, नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति
अन्धश्च पङ्गुश्च वनके समेत्य तौ सम्प्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ

अर्थ—आप्त पुरुष ज्ञान और क्रिया इन दोनो के संयोग होनेपर परमात्म दशा रूप सिद्धि फलको कहते है यह भी ठीक है. क्यों कि एक पैये से निश्चय करके रथभी नहीं चलता है. इच्छित नगरमे जाने की इच्छावाला अन्धा और पङ्गु ऐसे दो पुरुष एकत्रित हुए अर्थात् सशक्त

अन्धेने पंगु को अपने स्कंधपे बैठाया और पंगु के दिखाये अनुसार मार्गमे दावानल लगे हुए जङ्गल से भयके मारे दौंडा तो वे दोनो अपने इच्छित नगरमे पहूंच गये वैसेही क्रिया रूप सशक्त अन्ध व्यक्ति और ज्ञानरूप पंगु ये दोनों दु:खरूप दावानल लगे हुए ससाररूप जङ्गलसे एकत्रित हो कर यदि दौंडें तो अवश्यकर अनन्त अव्यावाध सुखवाले सिद्धिनगरमे पहूंच जाते है. ॥ ७६ ॥

॥ चारित्रकी प्राधान्यता ॥

सुबहुपि सुअमहीअं किं काही चरणविप्पहीणस्स अंधस्स जह पलित्ता दिवसयसहस्सकोडीओ७७

सुबह्वपि श्रुतमधीतं,किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य अन्धस्य यथा प्रज्वलिता. दीपशतसहस्रकोटय: ७७

अर्थ –जो पुरुष अत्यन्त ही श्रुत–ज्ञानको पढाहै मगर चारित्र से रहित है तो उसको ज्ञान किस कामका ? अपि तु कुच्छ भी मोक्ष दायक नहीं बन सकता,जैसे लाखों क्रोडो दीपक प्रज्वलित हो रहे है. तो भी नेत्र विहीन पुरुषको प्रकाश नहीं देसक्ते है. ॥ ७७ ॥

अप्पपि सुअमहीअ, पयासग होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्कोवि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेई ७८ ॥

अल्पमपिश्रुतमधीत, प्रकाशक भवति चरणयुक्तस्य
एकोऽपि यथा प्रदीप सचक्षुप प्रकाशयति ॥७८॥

अर्थ —जैसे एक भी दीपक सचक्षु–देखते हुए को प्रकाश देता है, वैसेही सचारित्रवानने पढा हुआ अल्प भी श्रुतज्ञान प्रकाश करनेवाला होता है. अत' सदाचार ही ज्ञानका मुख्य भूरण है. ॥ ७८ ॥

॥ श्रावककी ११ प्रतिमाओंका स्वरूप ॥

दसण वय सामाइय, पोसहपडिमा अबभ सच्चित्ते
-आरभ पेस उद्दिट्ठ, वज्जए समणभूए अ ॥ ७९ ॥

दर्शनव्रतसामायिक–पौपधप्रतिमाऽब्रह्मसच्चित्तम् ।
आरंभप्रेष्योद्दिष्ट, वर्जक श्रमणभूतश्च ॥ ७९ ॥

अर्थ ॥१॥सम्यक्त्व प्रतिमा–वीतरागीआप्तपुरुपो के कहे हुए तत्वोंमें शुद्ध श्रद्धान जिसका लक्षहैणउसको सम्यक्त्व कहते ह उस के ६७ भेद ह,जिन्हो में सम,सवेग,निर्वेद,अनुकम्पा, और आस्तिक्य ये पाच मुख्य भेद हैं इनको धारण करने से जी-

र सम्यक्त्वी होता है.वह राजा,गण,वल, देव, गुरु,और वृत्तिकान्तार इन छह अनिवार्य कारणों की प्रेरणा को पाकर स्वधर्म प्रतिकूल करने रूप अपवाद को अङ्गीकार करने में छुटा रहता है. परन्तु जव से सम्यक्त्व प्रतिमा को करने में श्रावक तत्पर होता है तव तथोक्त राजादि छ अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने पर भी स्वधर्म प्रतिकूल क्रिया करनेरूप अपवादको नहीं सेवन करता है. अर्थात् एक मास तक एकान्तर उपवास करता हुआ स्वधर्म में स्थिर रहता है उस समय सामायिक, पौषधादि करने में कोई मुख्य नियम नहीं है. यथा शक्ति करे. ॥ २ ॥ व्रत प्रतिमा–तथोक्त राजादि छहों से प्रेरित हुआ भी अपवाद का नहीं सेवन करता हुआ निरतिचार व्रतको पालन करे पहली सम्यक्त्व प्रतिमा की पूर्वोक्त विधिको करता हुआ इतना विशेष करे कि दो मास तक छठ २ दो दो उपवास से पारणा करे और रोगादि कारणों के उपस्थित होने पर भी निश्चल रहे. ॥ ३ ॥ सामायिक प्रतिमापूर्वोक्त विधि को

---

१ सङ्कादिसल्लविरहिय सम्मद्दसणजुओ उ जो जन्तू
सेसगुणविप्पमुक्को एसा खलु होइ पढमा उ ॥ १ ॥

२ दंसणपडिमाजुत्तो पालेन्तो ऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुणजुओ जीवो इह होइ वयपडिमा ॥ ॥

करता हुआ इतना विशेष करे कि रोगादि क होने पर तथा देवताओं के उपसर्ग होने पर भी दृढ आसन से द्वात्रिंशद् दूषणों को दूर कर निर्दूषण सामायिक कर तीन मास पर्यन्त अट्ठम [तीन उपवास] ³ पारणा करे ॥ ॥४। पौषधप्रतिमा--अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में रोगादि कष्ट के आने पर भी निरतिचार पौषध [धर्म पुष्टि] को कर चार महिने तक चार २ उपवास से पारणा करे पूर्वोक्तरीति से सम्यक्त्व पाले ॥ ५ ॥ कायोत्सर्ग-प्रतिमा--अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथिओं में पौषध कर उस समय अचल होकर कायोत्सर्ग कायव्यापारों का त्याग करे इस प्रतिमा में स्थित श्रावक स्नान विलेपनादि का त्याग करे रात्रि भोजन न करे रोगादि के होने पर

---

३ वरदसणवयजुत्तो सामइयं कुणइ जो तिसञ्झासु ।
उक्कोसेण तिमास एसा सामाइयपडिमा ॥ ३ ॥

४ पुव्वोदियपडिमजुओ, पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं ॥
अट्ठमि चउद्दसाइसु. चउरो मासे चउत्थी सा ॥ ४ ॥

५ सम्ममणुव्वयगुण, वयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य ॥
अट्ठमि चउद्दसीसु पडिमं ठाएगराइयं ॥
असिणाण वियडभोई, म लिकच्छो दिवस बम्भयारी य ॥
राइ परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥

भी रात्रिमें पानी न पीवे और खाय न दे दिन में ब्रह्मचर्य पाले रात्रि में कुशील का परिमाण करे और पूर्वोक्तानुसार सम्यक्त्व, सामायक, पौषधादि को करता हुआ पाच मासतक पांच २ उपवास से पारणा करे ॥

॥६॥ कुशील त्याग प्रतिमा–दिन और रात्रि मे सर्वथा स्त्री का त्याग करे छह मास तक छह २ उपवास से पारणा करे और पूर्वोक्त सम्यक्त्व, सामायिक, पौषधादि कृत्य करे ॥६॥

॥७॥ सचित्त त्याग प्रतिमा–सचित्त–जिस मे जीव है. ऐसी कोई भी चीज न खावे और कचा पानी तक न पीवे उपर बताई हुई सम्पूर्ण विधि भी आचरण करे सात मास तक सात ७ उपवासोंसे पारणा करे ॥

झायइ पडिमाए ठिओ तिलाय पुज्जे जिणे जियकसाए ।
नियदोसपच्चणीय अण्ण वा पञ्च जा मासा ॥ ६ ॥

६ पुव्वादिय गुणजुत्तो विसेसओ विजियमोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबम्भ मेगन्तओ य, राइ पि थिरचित्तो ॥ १ ॥
सिङ्गारकहाविरओ, इत्थीए सम रहम्मि नो ठाइ ।
चयए य अप्पसङ्ग, तहा विभूसह उक्कोस ॥ २ ॥
एव जा छम्मासा एसोऽहिगओ उ इयरहादिट्ठ ।
जावज्जीव पि इम वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥ ३ ॥

७ सच्चित्त आहारं वज्जइ, असणादिय निरवसेसं ।
सेसवयसमाउत्तो–जा मासा सत्त विहिपुव्व ॥ ७

॥८॥ आरम्भ त्याग प्रतिमा—अपने हाथ से आरम्भ-पापमय आचरण न कर आज्ञा देने मे छुट रहती है पूर्वोक्त सात प्रतिमाओ की सम्पूर्ण विधि को करता हुआ आठ मास तक आठ २ उपवास से पारणा कर. ॥

॥०॥ प्रेष्य वर्जन प्रतिमा-दास, दासी स्त्री, पुत्र, मित्रादि किसीको भी आदेश निर्देशकर आरम्भ को न करावे कुटुम्ब के निमित्त की हुई रसोई का ही भोजन कर कहकर रसोई न करावे. तथोक्त आठ प्रतिमा की संपूर्ण विधि को करता हुआ नव मास तक नव २ उपवास से पारणा कर

१० उदिष्ट त्याग प्रतिमा-अपने निमित्त पकाईहुई रसोई भी न खावे दूसरो के लिये पकाये हुए भोजन का ही आहार करे क्षुर मुण्डन करावे फक्त एक चोटी ही रक्खे, दो भाषा बोले-जानी हुई वस्तु को जानी कहे, अजानी को

---

८ वज्जइ सयमारम्भ सावज्जं कारवेइ पेसेहिं ।
वित्तिनिमित्त पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा ॥

० पसेहिं आरम्भं सावज्जं, कारवइ नो गुरुयं ।
पुव्वाव्य गुणजुत्तो नवमासा जाव विहिणा उ ॥

१ उद्दिट्ठकड भत्तपि वज्जय किमुय सेसमारम्भं ॥
सो होइ उ खुरमुण्डो, सिहलिं वा धारए कोइ ॥
दव्वं पुट्ठो जाणं नाणे इइ वयइ नो य ना वति ।

मैं न जानूं ऐसा कहे पूर्व की कही हुई सब विधि को करता हुआ दश मास पर्यन्त दश २ उपवास से पारणा करे.

॥११ श्रमण भूत प्रतिमा-साधु का वेस-रजोहरण, मुखवस्त्रिका पात्रादिको को धारण करे. धुंसर प्रमाण दृष्टि से देख कर यतना पूर्वक चले गृह, स्त्री, पुत्रादि परिवार से स्नेह न रक्खे निस्सङ्ग होकर खाने के निमित्त उचित घरो मे जाकर मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूं मुझे भिक्षा दो इस प्रकार आहार की याचना करे. क्षुर मुण्डन या हाथो से लुञ्चन करे कराने ग्यारह मास पर्यन्त उपर्युक्त दशो ही प्रतिमाओ की विधि सेवन करता हुआ ग्यारह २ उपवास से पारणा करे ॥ ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें हैं ॥ ७९ ॥

सपत्तदसणाई, पईदियह जइजणाओ निसुणेई ।
सामायारिं परम, जो खलु त सावग विंति॥८०॥

सम्प्राप्तदर्शनादि प्रतिदिवसं यतिजनेभ्यो नि शृणोति
सामाचारी परमा, य. खलु त श्रावक ब्रुवन्ति ॥८०

पुव्वाद्दिय गुणजुत्तो, दस मासा वाउ माणण ॥

११ खुरमुण्डो लोएण व रयहरण ओग्गह च घत्तूणं ।
समणब्भूओ विहरइ, धम्म काएण फासेन्तो ॥
एव उक्कासेण, एक्कारस मास जाव विहरेइ ।
एक्काहाइपरेण, एव सव्वत्थ पाएण ॥

अर्थ.—सम्यग् प्रकार से प्राप्त की है सम्यक्त्व आदि प्रतिमाएं जिस ने ऐसा जो हमेशा साधु जन के पास से उत्कृष्ट समाचारी को सुनता है उस को निश्चयकर ज्ञानी आप्तपुरुष श्रावक कहते हैं ॥ ८० ॥

जहा खरो चदणभारवाही,
भारस्सभागी न हु चदणस्स।
एव खु नाणी चरणेण हीणो
भारस्सभागी न हु सुग्गईए ८१

यथा खरश्चदनभारवाही भारस्य भागी न हि चंदनस्य
एव हि ज्ञानी चरणेन हीनो भारस्य भागी न हि सद्गते

अर्थ.—जैसे चन्दन के काष्ठको ढौकने वाला गद्धा मात्र चन्दन के भार को ही उठाता है लेकिन् उस में रही हुई उत्तम सुगन्धी का वह भोक्ता नहीं होता है. तद्वत् चारित्र से रहित ज्ञानवान् साधु ज्ञान का पढ़ैया मात्रही है अर्थात् उस के लिये ज्ञान भार रूप ही है अत सदाचार विहीन वह सद्गति का पात्र नहीं बन सकता है. ॥ ८१ ॥

तहिं पचिंदिआ जीवा, इत्थीजोणीनिवासिणो।
मणुआण नवलक्खा, सव्वे पासेई केवली ॥८२॥

तत्र पञ्चेन्द्रिया जीवाः, स्त्रीयोनिनिवासिनः ।
मनुष्याणा नवलक्षा', सर्वान् पश्यति केवली ॥८२॥

अर्थः—तीनों काल मे परिणमन स्वभावी, तीनलोक के व्यापी अनन्त धर्मात्मक पदार्थों को हथेली मे रहे हुए ऑवलेकी तरह अनन्तानन्त विषयी केवल ज्ञान द्वारा जो प्रत्यक्ष रूप से देख रहे हैं वेही तीर्थंकर परमात्मा परभावमे पडे हुए भव्य जीवो को सदुपदेश द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय स्वरूप वाले तथोक्त पदार्थों के स्वरूप का बोध देते हैं. कि हे भव्यजीव ? जिस स्थान से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है. अर्थात् तेरे इस वर्त्तमान मनुष्य रूप पर्याय की जो आदि भूमिका है. उस की तू सूक्ष्म दृष्टि से गवेषणा कर और जान कि वह भूमी कितनी अशुचि से भरी हुई है और उस भूमिका मे तेर साथ मे पैदा होने वाले भाई [सहज] कितने हैं हे भव्य जीव ? तू कर्म रूप ठगो से ठगाया हुआ सम्यग् ज्ञान रूप चक्षु विहीन होने से यदि उन भाइओंको [जीवोंको] नहीं देख सकता है तो जरा सावधान होकर कानो से तो सुनले हे भाई ? उस भूमिका के निवासी, पाच इन्द्रिय वाले, असज्ञि मनुष्य पर्याय वाले, नव लाख जीव हैं उन सबो को कर्म रूप ठगो से दूर हुए

कर्मोन्मुक्त केवली परमात्मा देखते हैं ॥ ८२ ॥

इत्थीण जोणीसु, हवति बेइंदिया य जे जीवा।
इक्को य दुन्नि तिन्निवि, लक्खपहुत्त तु उक्कोस ८३

स्त्रीणा योनिषु, भवन्ति द्वीन्द्रियाश्च ये जीवा'।
एकश्च द्वौ वा त्रयोऽपि, लक्षपृथक्त्व तृत्कृष्टम् ॥८३॥

अर्थ —हे भव्य जीव ? उस ही भूमिका मे दो इन्द्रिय वाले जो जीव है उन की सङ्ख्या एक दो तीन अथवा उत्कृष्ट लाख पृथक्त्व–दोलाख से नव लाख तक होती है ॥ ८३ ॥

पुरिसेण सहगयाए, तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुअ दिट्ठतेण, तत्ताइ सिलागनाएण ॥ ८४ ॥

पुरुषेण सहगताया–स्तेषा जीवानां भवत्युपद्रवणम्।
वेणुक दृष्टान्तेन, तप्ताय शलाकाज्ञातेन ॥ ८४ ॥

अर्थ —रुईस भरी हुई बास की नली मे तपाई हुई लोह की शलाका डालने से जैसे रुई जलकर भस्म हो जाती है वैसे ही हे भव्य जीव ? उस तेरी मनुष्य पर्याय की आदि जन्मभूमि मे पूर्वोक्त कहे हुए जीव [तेरे भाई) उस

भूमिका के साथ पुरुष का संबंध होने से नाश होते हैं. ८४

इत्थीण जोणिमज्झे, गब्भगयाइ हवति जे जीवा
उप्पज्जति चयति य, समुच्छिमा असखया भणिया

स्त्रीणां योनिमध्ये, गर्भगता भवन्ति ये जीवाः।
उत्पद्यन्ते च्यवन्ति च समूर्छिमा असंख्याता भणिता

अर्थ—हे मुमुक्षो ? तथोक्त भूमिका के गर्भ मे रहे हुए जो जीव हैं वे उत्पन्न होते हैं चवते हैं [नाश होते हैं.) और समूर्छिम [अपने आप ही पैदा होनेवाले] भी असख्य कहे हैं ॥ ८५ ॥

मेहुणसन्नारूढो, नवलक्ख हणेइ सुहुम जीवाण।
तित्थयरेण भणिय, सद्दहियव्व पयत्तेण ॥ ८६ ॥

मैथुनसज्ञारूढो, नवलक्षान् हन्ति सूक्ष्म जीवानाम्।
तीर्थंकरेण भणित श्रद्धातव्य प्रयत्नेन ॥ ८६ ॥

अर्थः—मैथुन सज्ञा मे आरूढ अर्थात् इन्द्रिय विषयों की पूर्त्ति के निमित्त स्त्रियों के साथ सबंध रखने वाला पुरुष पशु क्रिया करने के समय नौ (नव) लाख जीवोंका नाश करता है. यह तीर्थंकरो ने कहा है उस को प्रयत्न से

श्रद्धान करना ही चाहिये ॥ ८६ ॥

असखया थी नर मेहुणाओ
मुर्च्छति पचिंदिय माणुसाओ
निसेस अगाण विभत्ति चगे
भणई जिणो पन्नवणा उवगे ॥ ८७ ॥

असंख्याता. स्त्रीनरमैथुनतो,
मूर्च्छन्ति पंचेन्द्रियमनुष्या ।
निःशेषाङ्गाना विभक्तिचगे
भणति जिन प्रज्ञापनोपाङ्गे ॥८७॥

अर्थ'—स्त्री और पुरुष के मैथुन से असंख्याते सम्मूर्छिम पंचेंद्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं ऐसा अशेष [द्वादश] अङ्गो मे जीवाजीवादि (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत्) ऐसे लक्षण वाले द्रव्यो के वर्णनों से सुशोभित ऐसे प्रज्ञापना उपाङ्ग मे राग, द्वेष रूप अन्तरङ्ग शत्रुओं को जिते हैं जिन्हो ने ऐसे जिन भगवानोंने स्पष्ट रूप से कहा है ८७

मज्जे महुमि मसमि, नवणीयमि चउत्थए ।
उप्पज्जति असखा, तव्वन्ना तत्थ जतुणो ॥८८॥

मद्ये मधुनि मासे, नवनीते चतुर्थके।
उत्पद्यन्तेऽसख्या, स्तद्वर्णा स्तत्र जतव ॥ ८८ ॥

अर्थः—मदिरा मे, सहत मे मास मे चौथे मक्खनमें उस २ रग वाले असंख्याते जीव वहां उत्पन्न होते है ८८

आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सयय चिय उववाओ भणिओ अ निगो अ जीवाण

आमासु च पक्वासु च, विपच्यमानासु मासपेशीषु
सतत मेवोपपातो, भणितश्च निगोदजीवानाम् ८०

अर्थः—अपरिपक [कच्चे] मांस में तथा परिपक [पक्के हुए। मास मे पकी हुइ मास की पेशी के अन्दर हमेशॉ निगोदिए जीवों की उत्पत्ति कही है ॥ ८९ ॥

॥ व्रत भग करने का फल ।

आजम्म ज पाव, बधइ मिच्छत्त सजुओ कोई।
वयभंग काउमणो, बधइ त चेव अट्ठगुण ॥९०॥

आजन्म यत्पाप, बध्नाति मिथ्यात्वसंयुक्तः कोऽपि
व्रतभङ्ग कर्तुमना, बध्नाति तच्चैवाष्टगुणम् ॥ ९० ॥

अर्थ–मिथ्यात्व सहित कोइ प्राणी जन्म से लेकर यावत्

अन्तिम वरत पर्यंत जितना पाप बाधता है, उस से आठ गुना पाप व्रत भंग करने का मन करने में बाधता है क्योंकि कहा है " मन एव मनुष्याणां कारण बंध मोक्षयो " मनुष्यों के कर्म बंधन का कारण मन ही है और कर्म से मुक्त होकर मोक्ष मे जाने का कारण भी मन ही है. अतः मन की परिणति को सदैव ही शुद्ध रखनी चाहिये ॥ ९० ॥

सयसहस्साण नारीण, पि फाडेइ निग्घिणो ।
सत्तट्ठमासिए गब्भे, तप्फडते निकत्तइ ॥ ९१ ॥

शतसहस्राणां नारीणा-मुदरं स्फोटयति निर्घृणः ।
सप्ताष्टमासिकं गर्भं, कम्पमानं निकृन्तति ॥ ९१ ॥

तं तस्स जत्तियं पावं, तं नवगुणियं मेलियं हुज्जा ।
एगित्थिय जोगेण साहु बंधिज्ज मेहुणओ ॥९२॥

तत्तस्य यावत्कं पापं, तन्नवगुणितमेलितं भवेत् ।
एकस्त्रियाश्च योगेन, साधु बध्नाति मैथुनतः ॥ ९२ ॥

अर्थ —कोई निष्ठुर निर्दय परिणामी अधमाधम मनुष्य एक लाख गर्भवती स्त्रिओ के पेट को शस्त्रों से चीरता है. उन मे से निकले हुए और तडफते हुए बच्चों को मा-

रता है. उस प्राणी को जितना पाप लगता है. उस से नव गुना पाप एक वरन स्त्री के संयोग द्वारा कुशील के सेवन करने से साधु पाता है. ॥ ९१ ।–॥ ९२ ॥

॥ किस के पास सम्यक्त्व ग्रहण करना ॥

अखडीयचारित्तो वयधारी जो व होइ गीहत्थो ।
तस्स सगासे दसण,–वयगहण सोहिकरण च ९३

अखण्डितचारित्रो, व्रतधारी यो वा भवति गृहस्थ.
तस्य सकाशे दर्शन–व्रतग्रहणं शोधिकरणं च ९३

अर्थ —अखण्डित चारित्रवान् साधु हो, या व्रतधारी श्रावक हो उस के पास मे सम्यक्त्व तथा व्रतग्रहण करना चाहिये और पाप शोधन रूप आलोचन तप भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ९३ ॥

॥ स्थावर में जीव प्रमाण ॥

अद्दामलय पमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा ।
त पारेवय मित्ता, जबूदीवे न मायति ॥ ९४ ॥

आर्द्रामलकप्रमाणे, पृथ्वीकाये भवन्ति ये जीवा ।
ते पारापतमात्रा, जंबूद्विपे न मान्ति ॥ ९४ ॥

अर्थ —आर्द्र [लीला] आंवला प्रमाण पृथ्वी काय के अन्दर जो जीव होते हैं. वे प्रत्येक कबूतर जितना शरीर

धारण करें तो एक लाख योजन के जंबु द्वीप मे नहीं माते हैं.

एगमि उदगविंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पन्नता
ते जइ सरिसवमित्ता, जबूदीवे न मायति ॥९५॥

एकस्मिन्नुदकबिंदौ, ये जीवा जिनवरैः प्रज्ञप्ताः
ते यदि सर्पपमात्रा, जम्बूद्वीपे न मान्ति ॥ ९५ ॥

अर्थ--एक जल्के बिन्दु मे जो जीव जिनेश्वर भगवान् ने प्ररूपण किये हैं व अगर सरसो के दाने जितनी काया करे तो जबुद्वीप मे नहीं मा सक्ते हैं ॥ ९५ ॥

वरटतदुलमित्ता, तेउकाए हवति जे जीवा ।
ते जइ खसखसमित्ता, जबूदीवे न मायति ॥९६॥

वरटतन्दुलमात्रे, तेजस्काये भवन्ति ये जीवा ।
ते यदि खसखसमात्रा, जम्बूद्वीपे न मान्ति ॥ ९६ ॥

अर्थः—गुजरात आदि देशो मे होते हुए वटी (धान्यविशेष) के तन्दुल के जितने तेउकाय-अग्नि काय के कण मे जो जीव होते ह, व यदि खस खस के दाने जितनी देह को धारण करे तो जबुद्वीप मे नहीं माते हैं. ९६

जे लिंवपत्तमित्ता, वाऊकाए हवति जे जीवा ।
त मरथयलिक्खमित्ता, जंबूदीवे न मायति ९७

यस्मिन् निम्बपत्रमात्रे, वायुकाये भवन्ति ये जीवा.
ते मस्तकलिक्षामात्रा, जंबूद्वीपे न मान्ति ॥ ९७ ॥

अर्थः—जीस नीम्ब के पत्ते जितने वायु काय मे जो जीव रहे है. ये जीव माथे की लीख जितनी काया करें तो जबु द्वीप मे नहीं माते हैं. ॥ ९७ ॥

असुइठाणे पडिआ, चपकमाला न कीरइ सीसे
पासत्थाई ठाणे, सुवट्टमाणो तह अपुज्जे ॥९८॥

अशुचिस्थाने पतिता, चपकमाला न क्रियते शीर्षे।
पार्श्वस्थादिस्थानेषु, वर्त्तमानस्तथाऽपूज्यः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जैसे अशुचि (अपवित्र] जगह मे गिरी हुई चपे के पुष्पो की माला मस्तक पर धारण नहीं की जाती है. तैसे ही पूर्वोक्त पासत्यादि के स्थान में बसने वाला (पासमें रहने वाला) साधु भी वन्दन के लायक नहीं है

छट्ठट्ठम दसम दुवालसेहिं, मासद्धमासखमणेहिं
इत्तोउ अणेगगुणा, सोहा जिमियस्स नाणिस्स

षष्टाष्टमदशमद्वादशै, र्मासार्द्धमासक्षपणैः।
एतेभ्यस्त्वनेकगुणा, शोभा जिमितस्य ज्ञानिनः ९९

अर्थः—अज्ञानी मनुष्य • उपवास ३ उपवास ४ उपवास ५ उपवास पक्ष क्षपण-(१५ उपवास) मासक्षपण इन उपरोक्त तपस्या करने से जितना शोभता है, उस से ज्ञानी मनुष्य हमेशा आहार करता हुवा भी अनेक गुनी शोभा का पात्र बनता है.

ज अन्नाणि कम्म, खवेइ बहुआइ वासकोडीहिं
तन्नाणी तिहिंगुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेण १००

यदज्ञानी कर्म, क्षपयति बहूभिर्वर्षकोटीभि ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त , क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण।१००।

अर्थ —अज्ञानी मनुष्य बहुत क्रोडों वर्ष पर्यंत जितने कर्मों को क्षय करता है उतने कर्मों को ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति-मन, वचन, काया के गोपन (वश] करने से एक श्वासोश्वास में क्षपाता है. ॥ १०० ॥

॥ देव द्रव्य रक्षण का फल. ॥

जिवपवयणवुड्ढिकर, पभावग नाणदसणगुणाण
रक्खतो जिणदव्व, तित्थयरत्त लहइ जीवो ।१०१।

दुष्कृत्य रूप अग्निको प्रक्षेपण करता है. ॥ १०४ ॥

॥ पूजा करने का बडा फल. ॥

सुव्वइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं
पूआपणिहाणेण, उप्पन्नातियसलोगमि ॥१०५॥

श्रूयते दुर्गतनारी, जगद्गुरोः सिन्दुवारकुसुमैः ।
पूजाप्रणिधाने-नोत्पन्ना त्रिदशलोके । १०५ ॥

ऐसा सुना जाता है, कि दारिद्रय धारिणी एक स्त्री सिन्दुवारके पुष्पों से जगद्गुरु परमात्मा की पूजा करने के प्रणिधान—मनवचन, काया की एकाग्रतासे देवलोक में उत्पन्न हुई. ॥ १०५ ॥

॥ गुरु वन्दन का फल ॥

तित्थयरत्त सम्मत्त-खाइय सत्तमो तईयाए।
साहुण वदणेण, बद्ध च दसारसीहेण ॥ १०६ ॥

तीर्थंकरत्व सम्यक्त्व, क्षायिक ससम्यास्तृतीयायुः
साधुना वन्दनेन, बद्धं च दाशार्हसिंहेन ॥ १०६ ॥

अर्थ,—तीर्थंकरपना, क्षायिक सम्यक्त्व, सातमी नरक से तीसरी नरक के आयुष्यका बंधन येतीनों कृष्णवासुदेवने गुरु

भक्षयति य उपेक्षते, जिनद्रव्य तु श्रावक'
प्रज्ञाहीनो भवज्जीवो, लिप्यते पापकर्मणा ॥ १०३ ॥

अर्थः—जो श्रावक देवद्रव्य को खाता है -[हडप करता है] और जिन द्रव्य की उपेक्षा-(बेदरकारी) करता है तो वह जीव बुद्धि हीन होता है. हुये और पाप रूप कीचड से लिपाया जाता है ॥ १०३ ॥

॥ ४ बडे दुष्कृत्योंका त्याग करना ॥

चेइअदव्वविणासे, रिसिघाए पवयणस्सउड्डाहे।
सजइचउत्थभगे, मूलग्गी बोहिलाभस्स ।१०४।

चैत्यद्रव्यविनाशे, ऋषिघाते प्रवचनस्योड्डाहे ।
सयतीचतुर्थभगे, मूलाग्निर्बोधिलाभस्य ॥ १०४ ।

अर्थ –चैत्य-देवद्रव्य का नाश करने वाला, मुनि को मारने वाला, और सिद्धान्तो के वाक्यों को लोपने वाला तथा साध्वी का चतुर्थ महाव्रत-ब्रह्मचर्य [शील] व्रत का खण्डन करने वाला इन उपरोक्त ४ दुर्गुणो को धारने वाला सम्यक्त्व लाभ रुप वृक्ष क मूल को नष्ट करने के लिये

दुष्कृत्य रूप अग्निको प्रक्षेपण करता है. ॥ १०४ ॥

॥ पूजा करने का बडा फल. ॥

सुव्वइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं
पूआपणिहाणेणं, उप्पन्नातियसलोगंमि ॥१०५॥

श्रूयते दुर्गतनारी, जगद्गुरोः सिन्दुवारकुसुमैः ।
पूजाप्रणिधाने-नोत्पन्ना त्रिदशलोके ॥ १०५ ॥

ऐसा सुना जाता है. कि दारिद्रय धारिणी एक स्त्री सिन्दुवारके पुष्पों से जगद्गुरु परमात्मा की पूजा करने के प्रणिधान—मनवचन, काया की एकाग्रतासे देवलोक में उत्पन्न हुई. ॥ १०५ ॥

॥ गुरु वन्दन का फल ॥

तित्थयरत्त सम्मत्त-खाइय सत्तमी तईयाए ।
साहुण वदणेणं, बद्ध च दसारसीहेण ॥ १०६ ॥

तीर्थकरत्व सम्यक्त्व, क्षायिक ससम्यास्तृतीयायुः
साधूना वन्दनेन, बद्धं च दाशार्हसिंहेन ॥ १०६ ॥

अर्थ.—तीर्थकरपना. क्षायिक सम्यक्त्व. सातमी नरक से तीसरी नरक के आयुष्यका बंधन येतीनों ७

भक्षयति य उपेक्षते... ॥ १०६ ॥
प्रज्ञाहीनो भवत्... का स्थापन ॥

अर्थ.—... विरयाविरयाण
है] और ... ५. लघु
नह ...
... दव्वत्थए कूवदिट्ठतो ॥१०

...विरताऽविरतानामेष
संसारप्रतनुकरणे, द्रव्यस्तवे कूपदृष्टान्त ॥ १०७

अर्थ—धर्म कार्योमें सपूर्ण प्रवृति नही करने वाले श्रावक होते हैं. उनको दीर्घ संसारको अत्यन्त लघु बनाने लिये यह द्रव्य स्तव अंगीकार करने योग्य है उस विषय कूप का दृष्टान्त समझना. ॥ १०७ ॥

॥ क्रोधका फल. ॥

अणथोव वणथोव, अग्गी...
न हु ते विससिअव्व, थो...
ऋणस्तोकं व्रणस्तोकं,
न हि ...विश्वसितव्यं,
अर्थ—ऋण[कर्ज देना

अल्प हो कपाय कमहो तोभी इन सबों का विश्वास नहीं ही करना चहिये क्यों कि ये अल्प भी आगेकतर जल्दी होजाते हैं. अतःइन का विश्वास नहीं करना चाहिये।।१०८

॥ मिथ्या दुष्कृत का प्रवर्त्तन ॥

जं दुकडति मिच्छा, त भुज्जो कारण अपूरंतो ।
तिविहेण पडिक्कतो, तस्स खलु दुक्कड मिच्छा १०९

यद्दुष्कृतमिति मिथ्या, तद्भूयः कारणमपूरयन् ।
त्रिविधेन प्रतिक्रामन्, तस्य खलु दुष्कृतमिथ्या १०९

अर्थः जो दुष्कृत्य को मिथ्या-निष्फल करे. और उस-दुष्कृत्य के कारण को फिर पीछा सेवन- आचरण न करे और त्रिविध-मन,वचन काया द्वारा प्रतिक्रमे अर्थात् उस पाप से हटे. उस को निश्चय कर सचा मिथ्या दुष्कृत कहा है न कि कुमार के धमकाये हुए एक क्षुल्लक साधुने वारंवार मिथ्या दुष्कृत दिया. और वैसे ही फिर कंकर पत्थर डा-लता रहा. ऐसे मिथ्या दुष्कृत देनेवाले पापोंसे कभी भी मुक्त नहीं होते हैं. ॥ १०९ ॥

ज दुक्कडति मिच्छा, त चेव निसेवइ पुणो पाव ।
पच्चक्खमुसावाई, मायानियडिप्पस गो अ ११०

यद्दुष्कृतमिति मिथ्या, तच्चैव निषेवते पुन' पापम् ।
प्रत्यक्षमृपावादी, मायानिषिडप्रसगश्च ॥ ११० ॥

अर्थ'–जो दुष्कृत्य को मिथ्याकर उस ही पाप के कारण को पीछा अङ्गीकार करे उस प्राणी को प्रत्यक्ष मृषा वादी और घनिष्ट कपट मसङ्गी जानना ॥ ११० ॥

॥ "मिच्छामिदुक्कड" इसवाक्य का अक्षरार्थ' ॥

मित्ति मिउ मद्दवत्ते छत्तीदोसाण छायणे होई ।
मि त्तअ मेराइट्ठिओ, दुत्ति दुगछामि अप्पाण १११

मीति मृदुर्मार्दवत्वे, च्छेति दोषाणाच्छादने भवति
मीति च मर्यादास्थितो, दु इति दुर्गच्छाम्यात्मानम्

कत्ति कड मे पाव, डत्तिय देवेमि त उपसमेण ।
एसो मिच्छादुक्कड, पयक्खरत्थो समासेण ।११२।

कथेति कृत मे पाप, डेति च दहामि तदुपशमेन
एप मिथ्यादुष्कृत, पदाक्षरार्थ. समासेन ॥ ११२ ॥

अर्थ'–मि" मृदु-कोमलताके अन्दर रहे हुए " 'च्छा' दोषो को आच्छादित-ढकनेकेवास्ते "मि" मर्यादामें स्थित रहेने के लिये ' दु" आत्मा के साथ मे अनादि काल से रहे हुए कर्म जन्य दुर्गुण उनकी दुर्गंछा-घृणा (ग्लानि) करता हुं "क्क" मेरे किये हुए पापो को "डं" उपशम द्वारा जलाकर भस्मी भावकरूं. उपरोक्त प्रकार मिच्छामि दुक्कडं" इस वाक्य के प्रत्येक अक्षरो का अर्थ संक्षेप से जानना ॥ ११२–११२ ॥

॥ चार प्रकार के तीर्थ का वर्णन ॥

नाम ठवणातित्थ, दव्वतित्थ च भावतित्थ च ।
इक्किक्कमि य इत्तो, ऽणेगविह होई नायव्व ।११३।

नाम स्थापनातीर्थं, द्रव्यतीर्थं च भावतीर्थं च ।
एकैकस्मिन् चा–नेकविध भवति ज्ञातव्यम् ॥११३॥

अर्थ.—नाम तीर्थ, स्थापना तीर्थ, द्रव्य तीर्थ और भाव तीर्थ ये चार भेद तीर्थ के हैं इनमे प्रत्येक तीर्थ के अनेक २ भेद होते हैं ये जानने चाहिये. ॥ ११३ ॥

॥ द्रव्य तीर्थका स्वरूप ॥

दाहोवसम तह्नाइ ठेयण, मलपिवाहण चेव ।
तिहिं अत्थेहिं निउत्त, तम्हा त दव्वओतित्थ ११४

दाहोपशम तृष्णादि, च्छेदन मलप्रवाधनं चैव ।
त्रिभिरर्थैर्नियुक्त, तस्मात् तद्द्रव्यतस्तीर्थम् ॥११४॥

अर्थ—दाह की उप शमाना तृषादि को छेदन करना और मेल वगेरह को दूर करना इन तीन अर्थों से युक्त हो तिस कारण से उस को द्रव्य तीर्थ कहा है. ॥ ११४॥

॥ भाव तीर्थ का स्वरूप ॥

कोहमिउ निग्गहिए, दाहस्स
उवसमण हवउ तित्थ ।
लोहमिउ निग्गहिए, तह्नाए ठेयण होई ॥ ११५॥

अट्ठविह कम्मरय, बहुएहिं भवेहिं सचिय जम्हा ।
तवसजमेण धोवइ, तम्हा त भावओ तित्थं ।११६।

क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमन भवति तीर्थम् ।
लोभे तु निगृहीते, तृष्णाया छेदनं भवति ॥११५॥

अष्टविधे कर्मरजो, बहुभिर्भवै. सञ्चित यस्मात् ।
तप. संयमेन धुवति तस्मात् तत् भावतस्तीर्थम्

अर्थ —क्रोध का निग्रह करने से दाह का उपशम रू-प तीर्थ होता है. लोभ का निग्रह करने से तृष्णा छेदन रू-प तीर्थ होता है. अनेक भवों से सचित अष्ट प्रकार के कर्म-रूप रज है. उन को तप संयम द्वारा धोता है, या. दूर करता है जिस कारण से उन को भाव से तीर्थ कहा है.११५-६

दसणनाणचरित्ते-सु निउत्त जिणवरेहिं सव्वेहि ।
एएण होइ तित्थ, एसो अन्नोवि पज्जाओ ॥११७॥
दर्शनज्ञानचारित्रे-षु नियुक्त जिनवरै. सर्वैः ।
एतेन भवति तीर्थ-मेव अन्योऽपि पर्यायः ॥११७॥

अर्थ-—इस ही लिये सव जिनेश्वरोंने ज्ञान दर्शन और चारित्र के अन्दर तीर्थ कहा है. इस प्रकार वह दूसरा भी पर्याय होता है. ॥ ११७ ॥

सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माण पावए फलविवाय ॥
अवराहेसु गुणेसु अ निमित्तमित्त परो होइ ११८
सर्वः पूर्वकृतानां, कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु गुणेषु च, निमित्तमात्र परो

अर्थ—तमाम जीव पूर्व कृत कर्मों के फल विपाक को पाते हैं. अपराधों के अन्दर तथा गुणों मे अन्य दूसरा तो निमित्त मात्र ही है जैसा जीव कर्म करता है वैसा ही फल को पाताहै. दूसरे क किया हुआ कुछ भी नहीं होताहै.

धारिज्जइ इत्तो जलनिही,वि कल्लोलभिन्नकुलसेलो
न हु अन्नजम्मनिम्मिय, सुहासुहो कम्मपरिणामो

धार्यत इतो जलनिधि, रपि कल्लोलभिन्नकुलशैल
न ह्यन्यजन्मनिर्मित-शुभाशुभ कर्मपरिणाम' ११९

अर्थ.—अपने कल्लोलों द्वारा वडे पर्वतो को जिसने भेदा है. ऐसे समुद्र को धारण कर सकता है मगर अन्य भव मे किये हुए शुभाशुभ [अच्छे या बुरे] कर्मों के परिणा मों को नहीं रोक सकता है ॥ ११९ ॥

अकय को परिभुंजइ,
सकय नासिज्ज कस्स किर कम्म
सकयमणुभुजमाणो, कीस जणो दुम्मणो होई ।

अकृत क परिभुङ्क्ते,स्वकृत नश्यति कस्य किल कर्म
स्वकृतमनुभुजान', कथं जनो दुर्मना भवति ॥१२०॥

अर्थः—विना किया हुआ कर्म कौन भोक्ता है. ? अपितु कोईभी नहीं भोगता है. और अपना किया हुआ कर्म किस का नाश होता है अपितु किसी का भी कर्म नष्ट नहीं होता है. तो फिर अपना उपार्जन किया हुवा कर्म को भोगता हुआ मनुष्य क्यो दु खी होता है. हमेशां सम भावसे कर्म विपाक को भोगना चाहिये. ॥ १२० ॥

पोसेइ सुहभावे, असुहाइ खवेइ नत्थि सदेहो ।
छिंदइ नरयतिरियगइ, पोसहविहि अप्पमत्तो य

पोषयति शुभभावा-नशुभानि क्षपयति नास्तिसदेह
छिनत्ति नरकतिर्यग्गति, पौषधविधिरप्रमत्तश्च १२१

अर्थ.—अप्रमत्तता से जो मनुष्य विधि पूर्वक पौषध करता है. वह पुरुष शुभभावों का पोषण करता है और अशुभ भावो को क्षपाता है. तथा नरक, तिर्यंचकी गतिको छेदन करता है. इस मे सदेह नहीं है ॥ १२१ ॥

॥ अष्ट प्रकारी पूजा ॥

वरगंधपुप्फ अक्खय, पईवफलधूवनीरपत्तेहिं ।
नेविज्जविहाणेण य, जिणपूआ अट्ठहा भणिया ॥

वरगन्धपुष्पाक्षत-प्रदीपफलधूपनीरपात्रः ।

नैनेद्यविधानेन च, जिनपूजाऽष्टधा भणिता ॥१२२

अर्थ.—श्रेष्ठ-अच्छी गन्ध पूजा १ पुष्प पूजा २ अक्षत-अखण्डित-अक्षत पूजा, दीपक पूजा ४ फल पूजा ५ धूप पूजा ६ कलश पूजा ७ और नैनेद्य विधान पूजा ८ ऐसे अष्ट प्रकारसे जिनेश्वर की पूजा कही है. ॥ १२२ ॥

॥ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का फल ॥

उवसमइ दुरियवग्ग, हरइ दुह कुणइ
सयलसुक्खाइ ।
चिंताईयपि फल, साहइ पूआ जिणंदाणं ॥१२३॥

उपशमयति दुरितवर्गं, हरति
दुःख करोति सकलसौख्यानि ।
चिन्तातीतमपि फल, साधयति पूजा जिनेन्द्राणाम्

अर्थ —जिनेश्वर भगवान् की पूजा दुरित-पाप वर्ग को उपशमाती है, और दुःख को हरती है, सब सुखों को उत्पन्न करती है, मोक्ष फल को भी साधती (अचिन्त्य) है.

॥ धर्म कार्य करनें में विधि की उत्कृष्टता. ॥

धन्नाण विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना
विहिबहुमाणा धन्ना, विहिपक्ख अदूसगा धन्ना

न्यानां विधियोगो, विधिपक्षाराधकाः सदा धन्याः
विधिबहुमाना धन्या, विधिपक्षाऽदूषका धन्याः१२४

अर्थः-विधि का योग भाग्यशाली मनुष्यों को मिल-ता है. विधि मार्ग को आराधन करने वाले पुरुषों को हमे-शा धन्यवाद हैं, विधिका सत्कार करने वाले जनों को ध-न्य हैं. और विधि पक्ष को अविधि से दूषित नहीं करते हैं. वे धर्मात्मा भी धन्य वाद के पात्र माने गये हैं.॥१२४॥

॥ अन्तिम मङ्गलाचरण. ॥

संवेगमणो सबोहसत्तरिं, जो पढेइ भव्वजीवो ॥
सिरिजयसेहरठाणं, सो लहइ नत्थि संदेहो ।१२५।
संवेगमनाः संबोधसप्तति, य पठति भव्यजीव ।
श्री जयशेखरस्थान, स लभते नास्ति संदेह ॥१२५॥

अर्थ—सम्यक् प्रकार से बोध को देने वाले अर्थात् शुद्ध परिणति को करने वाले ऐसे संबोध सत्तरि नामक प्रकरण को जो संवेग रंग से रंगा हुआ मन वाला भव्यजन पढता है वह पुन्य अष्ट कर्म रूप शत्रु के जय से प्राप्त हुई भाव लक्ष्मी के जय शेखर (मोक्ष) स्थानको प्राप्त करता है. उस मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं है.॥१२५॥

श्रीमन्नागपुरीयाह्व, तपोगणकजारुणा ॥
ज्ञानपीयूषपूर्णांगा सूरीन्द्रा जयशेखरा ॥१॥

तेषा पत्कजमधुपा., सूरयो रत्नशेखरा. ॥
सार श्रुतात् समुद्धृत्य, चक्रु. सबोधसप्ततिम् ॥२

श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीतविविधविषयाकीर्णसंबोधसप्तति-
प्रकीर्णकस्य प्राकृतसंस्कृतानभिज्ञजिज्ञासूना सुख-
बोधाय वल्लभश्रीविहित हिन्दीभाषानुवाद.
समाप्तिमगमत्
श्रेयसेऽस्तु,



॥०– ॐ –०॥

॥ अथान्त्य–प्रशस्ति मङ्गलम् ॥

॥ दूहा. ॥

स्वस्ति श्री स्याद्वादमय,-विधि धर खरतर गच्छ, ।
सुखकर-गणनायक जहाँ, "सुख सागर" गुरु स्वच्छ ॥१॥

उन के शिष्य "भगवान" गुरु, भव भय हर भगवान ।
तीव्र-तपस्वी शान्तिगुरु, "छगन सिन्धु" गुणवान ॥ २ ॥

गुरु"त्रिलोक सागर" मवर, संयम रक्षक धीर ।
वर्तमान गणनाथ"हरि सागर" गुण गम्भीर ॥ ३ ॥

श्री"आनन्द सागर" सदा, दे आनन्द अपार ।
पर उपकारी है गुरु, सदाचार धरनार ॥ ४ ॥

शिष्यतस्य विनयावनत, श्री"महेन्द्र सुखकार ।
सशोधक इसमे "कवीन्द्र,"गुरु गुण के भण्डार ॥ ५ ।

"उद्योत श्री जी" हुई, प्रवर्तिनी पद सार ।
उनकी शिष्या श्रीमती लक्ष्मी श्री जयकार ॥ ६ ॥

तत्पद पंकज मधुकरी, "शिव श्री" श्रीकार ।
मम गुरुणी पद धारिणी, शिवसुखकी दातार ॥ ७ ॥

हितशिक्षा सह ज्ञान दे, किया बहुत उपकार ।
दु ग्वहारिणी श्रीमती, "ज्ञान श्री है सार ८ ॥

भाषान्तर संक्षेप यह, पूज्यों के परताप ।
"वल्लभश्री" ने है लिखा पढो मिटे सन्ताप ॥९॥

गुर्जर जनपद मुकुटमणि, " अहम्मदावाद म आज ।
सज्जन जन शोधन करे, कृपया यह हितकाज ॥ १० ॥

श्रीवीरात् चौवीस सौ, पचपन बीते वर्ष ।
मिगसर शुक्लासप्तमी, बुधवासर हो हर्ष ॥ ११ ॥

॥ समाप्ता प्रशस्ति ॥

॥ ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति, ॥

आर्या वल्लभश्री

॥ अथ शुद्धिपत्रकम् ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	७	•	देवधर्मगुरुका स्वरूप
	१२	मगुरु	सुगुरु
५	११	उत्सगत	उत्सर्गत
„	१	ओर	और
		आराधन	आराधक
„	८	गुरुगुल्का	गुरुका
„	१६	गुरु शब्द	गु शब्द
६	६	समुद्र में	समुद्र मे
„	७	तद्यत्	तद्वत्
९	१०	निरोहा	निरीहा
१४	२	अहृंक्तो	अइक्तो
१६	८	सायममे	सायमे
१९	९	जद्गुरव	जगद्गुरव
„	१	शडीय	मंडिये
२२	५	(२० मण)	(२० लाख मण)
२३	४	निद	निंद
	६	निन्दा	निन्द्या
२४	३	अट्टयसट्टा	अट्टसट्टो
	८	धौम्र	धौम्र
„	१६	चउद्दश	चउद्दस
२८	७	पचेन्द्रिय	पचेन्द्रिय
„	१६	मह व्रत	महा व्रत

२९	३	रवादिम	ग्यादिम
३	४	दशी	दसी
,,	७	प्रकुति	प्रकृति
,,	१०	सग्कय	सम्कयङ
३१	२	दष्टि	दृष्टि
,	९	दसिया	दूसिया
३२	७	गुरु	गुरू
३४	९	है.	है
३६	९	कयोंकी	क्यों कि
३९	१२	लब्धं	लब्धे
४१	१	ससार	संसार
४१	१९	आसानां	असाणा
४२	९	तय	तयं
४२	११	कुणमे	कुणमे
४३	५	उसहादिण	उसहादोण
४५	१	दानम	दाणम
४६	११	कदाची	कदापि
५०	६	दोस	दोसं
५१	११	अयणो	अयणा
५८	१५	लभहैण	लभणहै
५९	१३	पूर्वोक	पूर्वोक
६०	१८	अठमो	अठ्ठमी
,	,	चउददसीसु	चउद्दसीसु
,	,,	पग	ठापग
	१९	आसिणाण	असिणाण

[illegible]